# श्रीमद्भगवद्गीतार्थ-संग्रह।

अर्थात्।

भगवान् श्रीकृष्ण के अर्जुन प्रति उपदेशों का
सरल हिन्दी भाषा में सार-संग्रह।

" एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकी पुत्र एव।
एको मंत्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥ "

—भगवान् श्रीरामानुजाचार्य


संग्रहकर्त्ता,

चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्म्मा।



प्रकाशक,

नेशनल प्रेस प्रयाग।

[प्रथम संस्करण]

[मूल्य ।)]

# चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्म्मा कृत

## बालक बालिकाओं के लिये हिन्दी की पढ़ने योग्य सचित्र पुस्तकें।

१ आख्योपन्यास, प्रथम भाग (सचित्र) ... ... ॥)
२ ... दूसरा भाग (सचित्र) ... ... ॥)
३ श्री मद्भागवत संग्रह (सचित्र) ... ... ... ॥)
४ रामायणीय संग्रह (सचित्र) ... ... ... ॥)
५ संक्षिप्त-मनुस्मृति ... ... ... ।)
६ संक्षिप्त-विष्णु-पुराण ... ... ॥)
७ सच्ची-मनोहर-कहानियाँ ... ... ॥)
८ उपदेश-रत्न-माला ... ... ।)
९ संक्षिप्त-पाराशर-स्मृति ... ... ।)
१० आश्चर्य्य-सप्त-दर्शी ... ... ।)
११ ग्रीस और रोम की दन्त-कथायें ... ... ।)
१२ संक्षिप्त मार्कण्डेय पुराण ... ... ।)
१३ हिन्दी-महा-भारत, प्रथम खण्ड ... ... ... ॥)
१४ हिन्दी महा-भारत द्वितीय खण्ड ... .. ... ॥)
१५ भारतीय-उपाख्यान-माला-प्रथम खण्ड ... ... ॥)
१६ भारतीय-उपाख्यान-माला-द्वितीय खण्ड ... ... ॥)
१७ सरल-पत्र-बोध ... ... ... ।)
१८ संक्षिप्त-कल्कि-पुराण .. ... ... ।)
१९ शिष्टाचार-पद्धति .. ... ... ।)
२० हिन्दी-निबन्ध-शिक्षा .. ... ... ॥)
२१ भाषा-हितोपदेश ... ... ... ।)
२२ दश कुमारों का वृत्तान्त ... ... ... ।)
२३ नाटकीय-कथा ... ... ... -)
२४ हिन्दी व्याकरण शिक्षा ... ... ... ॥)
२५ याज्ञवल्क्य स्मृति-सार ... ... ... ।)
२६ आदर्श-महात्मागण प्रथम भाग ... ... ... ॥)
२७ आदर्श-महात्मागण द्वितीय भाग ... ... ... ॥)
हिन्दी-पद्य-संग्रह ... ... ... ॥=)
हिन्दी-महा-भारत-जिल्ददार, (सचित्र) अठारहों पर्व सहित ... १।)
भारतीय-उपाख्यान-माला (सचित्र) ... ... १।)
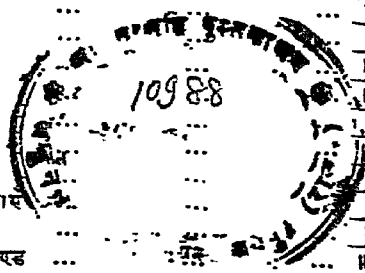
इन पुस्तकों के मिलने का पता:—

## एजूकेशनल बुक डिपो

## इलाहाबाद।

# विषय-सूची।

# श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्य।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ १ ॥

समस्त उपनिषद् गौ का स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण उस गौ के दुहने वाले हैं। पार्थ अर्थात् अर्जुन उस गौ के बछड़ा हैं, सुधी अर्थात् पण्डित गण इस दुग्ध को पान करने वाले हैं और यह गीता दूध है।

सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥ २ ॥

गीता सब शास्त्रों का निचोड़ है, गीता निर्मल है और गीता ही सब शास्त्रों में प्रधान है।

गीता धीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा।
वेद शास्त्रपुराणादि तेनाधीतानि सर्वशः ॥ ३ ॥

जिसने भक्ति-पूर्वक गीता पढ़ ली है, उसने वेद, धर्म शास्त्र और पुराण सभी पढ़ डाले हैं।

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मा द्विनिःसृता ॥ ४ ॥

गीता को सुचारुरूप से पढ़ना चाहिये और शास्त्रों के पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि गीता स्वयं पद्मनाभ के मुख से निकली है। अर्थात् वेद आदि तो ऋषियों द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं; किन्तु गीता को भगवान् ने स्वयं अपने मुख से प्राणियों के हितार्थ कहा है।

तदिदं गीताशास्त्रं समस्त वेदार्थ सार संग्रह भूतं। ......
गीता शास्त्रार्थ विज्ञानेन समस्त पुरुषार्थसिद्धिः ॥ ५ ॥

—शङ्कराचार्य,

यह गीता शास्त्र समस्त शास्त्रों का निचोड़ है। इस शास्त्र को भली भाँति जान लेने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चतुर्वर्ग की सिद्धि होती है।

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्तिहि पापानि पूर्वजन्म कृतानि च ॥ ६ ॥

जो गीता पढ़ता है और प्राणायाम क्रिया करता है; उसके इस जन्म और पूर्वजन्म के किये हुए सारे पाप अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसिस्नानं संसारमल नाशनम् ॥ ७ ॥

शरीर का मैल छुटाने के लिये मनुष्य नित्य जल से स्नान करते हैं; किन्तु संसार रूपी मैल छुटाने के लिये गीता रूपी जल में स्नान करना चाहिये।

भारतामृत सर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीता गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८ ॥

महाभारत का सर्वस्व और भगवान् विष्णु के मुखपद्म से निकले हुए गीता रूपी गङ्गोदक को पीने वाले को बार बार इस मृत्यु-लोक में जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता।

---
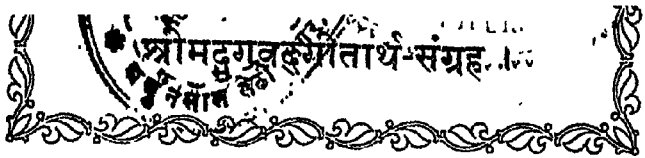
## उपक्रम ।

एक दिन की बात है। गोपाल और गोविन्द दो बालकों में श्रीमद्भगवद्गीता को लेकर चर्चा होने लगी। गोपाल और गोविन्द एक संस्कृत पाठशाला के विद्यार्थी हैं और दोनों ही दर्शनशास्त्र की परीक्षा देने वाले हैं। उन दोनों में जो कथोपकथन गीता के विषय में हुआ, उसका सार हम नीचे उद्धृत करते हैं।

गोपाल—भगवद्गीता का क्या अर्थ है ?

गोविन्द-देव-सङ्गीत ( Divine lay )।

गोपाल-गीता में कौन सा विषय निरूपण किया गया है ?

गोविन्द-गीता में मनुष्य-जीवन की जटिल समस्याओं पर सूत्र रूप से विचार किया गया है। भगवद्गीता की रचना, तर्क शास्त्र की रचना की तरह गाँठ गठीली है।

गोपाल–अच्छा, गोविन्द! यह तो बतलाओ कि गीता में मनुष्य जीवन की किस मुख्य समस्या पर विचार किया गया है?

गोविन्द–भाई गोपाल सुनो! मनुष्य जीवन की सैकड़ों कठिन समस्याओं की गीता में मीमाँसा की गई है। उन सब में मुख्य समस्या है–कर्त्तव्य-विमुख को कर्त्तव्य-पालन का उपदेश।

गोपाल—भाई, तब तो गीता सचमुच ही बड़े काम की वस्तु है। विशेष कर आज कल के लोगों के लिये। जो प्रायः अपने कर्त्तव्य कर्मों से विमुख होते चले जा रहे हैं। किन्तु भाई गोविन्द! यह तो बतलाओ कि गीता में जो उपदेश दिये गये हैं, उनके प्रमाण क्या हैं?

गोविन्द—गीता के उपदेशों में प्रमाण की आवश्यकता नहीं. गीता स्वयं प्रमाण है। जिसने एक बार भी गीता को आद्यन्त पढ़ा है, वह कह सकता है कि कर्त्तव्य-विमुख जीव को कर्त्तव्य-कार्य में प्रवृत्त कराना ही गीता का मूल मंत्र है।

गोपाल—भाई गोविन्द! तुम्हारी बात अभी भली भाँति मेरी समझ में नहीं आयी। उदाहरण देकर समझाइये।

गोविन्द—अच्छा उदाहरण देता हूँ। ध्यान से सुनो। क्षत्रियों का कर्त्तव्य है कि वे दुष्टों के

दमन और शिष्टों के पालन के लिये युद्ध करें। देखो दुर्योधनादि कुरुवंश वाले कैसे दुःशील थे। ज्ञातिहिंसा, परस्वापहरण, प्रतारणा. आदि अनेक प्रकार के दुष्कर्म करना ही उनका जीवन व्यापी व्रत था। ऐसों को दमन करना क्षत्रिय मात्र का कर्त्तव्य है। अतः ऐसे कुरुवंशियों के साथ युद्ध करना अर्जुन का कर्त्तव्य था। कहो था कि नहीं?

गोपाल—हाँ अर्जुन का कर्त्तव्य था।

गोविन्द—एक बात और विचारने की है। अर्जुन ने लक्ष्यवेध कर के सर्वललामभूता द्रौपदी का पाणिग्रहण किया। उसी द्रौपदी को भरी सभा में कौरवों ने अपमानित किया। दुःशासन ने द्रौपदी की चोटी पकड़ कर सब के सामने उसे नग्न करना चाहा। यही नहीं, किन्तु द्रौपदी को अपने ऊरु पर बिठाना चाहा। जिन कौरवों के द्वारा अर्जुन की प्रियतमा पत्नी इस प्रकार अपमानित की गयी, उन कौरवों के विरुद्ध अर्जुन को अस्त्र उठाना उचित है कि अनुचित?

गोपाल—एक बार नहीं-हज़ार बार उचित है। व्याही हुई स्त्री का इस प्रकार का अपमान! राम!! राम!!! इसे जो सह ले और चुप रहे, उसे तो मैं कापुरुष कहूँगा।

गोविन्द—यही नहीं अभी एक बात और भी कहनी है। अर्जुन के बड़े भाई का नाम युधिष्ठिर था। युधिष्ठिर निर्लोभ, निष्काम, निरञ्जन, निरत्यय, निर्लेप और अनिर्व्विण्ण महापुरुष थे। ऐसे महात्मा को जिन दुष्टों ने छल कर जुआ के खेल में प्रवृत्त किया और बेईमानी से उन्हें हरा कर, उनका सर्वस्व छीन कर उन्हें द्वार द्वार का भिक्षुक बना दिया, उन पापी दुष्टों को मारना क्षत्रिय मात्र और विशेष कर अर्जुन का कर्त्तव्य था कि नहीं?

गोपाल—कर्त्तव्य तो था ही-यदि अर्जुन उन दुष्टों को न मारते, तो मैं तो अर्जुन को भीरु, डरपोक अथवा कापुरुष कहते तिल भर भी न हिचकता।

गोविन्द—अच्छा, ठीक है। अब भगवद्गीता की घटना पर विचार करो। पाण्डवों ने नाना प्रकार से अपमानित हो कर भी कौरवों के साथ युद्ध करने में आनाकानी की। सर्वस्व दे कर भी उन पाँच भाइयों ने अपने खाने पीने का व्यय निर्वाह करने के लिये केवल पाँच ग्राम माँगे। किन्तु बलदर्पी दुर्योधन ने उत्तर में कहा:—'बिना युद्ध के मैं तुम्हें सुई की नोक के

बराबर भी भूमि नहीं दूँगा* जब यह कोरा उत्तर मिला, तब अन्य उपाय न देख कर पाण्डवों को कौरवों के साथ युद्ध करने की तयारियाँ करनी पड़ीं । कुरुक्षेत्र में दोनों ओर की असंख्य सेना लड़ाई के लिये जमा हुई । जमा ही नहीं हुई ; किन्तु दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध की सूचना देने वाले शङ्ख भी बज चुके । उस समय अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं–' प्रभो ! मैं सैनिकों का विशेष रूप से निरीक्षण करना चाहता हूँ । आप मेरा रथ समराङ्गण के बीच में ले चलिये ।' श्रीकृष्ण ने वैसा ही किया । अर्जुन विपक्षियों की सेना को देखने लगे । अर्जुन ने देखा—विपक्षियों में कोई तो उनके पितामह हैं. कोई उनके पितृव्य ( चाचा ) हैं ; कोई उनके आचार्य हैं : कोई उनके मातुल ( मामा ) हैं ; कोई उनके भ्राता हैं : कोई उनके भतीजे हैं : कोई उनके ससुर हैं ; कोई उनके मित्र हैं और कोई उनके सुहृद हैं । युद्ध करने पर इन अपने सम्बन्धियों को मारना पड़ेगा—यह विचार उत्पन्न होते ही अर्जुन का मन दया से परिप्लुत हो गया । उन्होंने धनुष-बाण रख

---

* सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिनी ।
तदहं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ॥
—महाभारते ।

दिये और श्रीकृष्ण से कहने लगे—'प्रभो! मुझसे तो ऐसा निष्ठुर काम नहीं होगा। मैं तो युद्ध नहीं करूँगा' अर्जुन कौरवों की दुःशीलता, पत्नी का अपमान, भाइयों की लाञ्छना भूल कर रण से पराङ्मुख हुए। ऐसी दशा उपस्थित होने पर भाई गोपाल! बतलाओ तो तुम अर्जुन को कर्त्तव्य-विमुख कहोगे कि नहीं?

गोपाल—अर्जुन को कर्त्तव्य-विमुख तो मैं कहूँगा, पर मैं उनकी निन्दा नहीं कर सकता।

गोविन्द—क्यों? जो कर्त्तव्य-पालन न कर के, उससे मुँह मोड़े, वही तो निन्दा का पात्र समझा जाता है।

गोपाल—बहुत ठीक! किन्तु भिन्न भिन्न लोग, भिन्न भिन्न कारणों से कर्त्तव्य-विमुख होते हैं। कोई तो आलस्य-वश, कोई दौर्बल्यता के कारण, कोई क्षमता न होने से और कोई लोक-निन्दा के भय से, कर्त्तव्य से मुख मोड़ता है। इन सब को मैं निन्दा कर सकता हूँ; किन्तु जो अधर्म्म के भय से कर्त्तव्य-विमुख हो, उसकी निन्दा मैं नहीं करूँगा।

गोविन्द—अधर्म-भय क्या वस्तु है? कर्त्तव्य-निष्ठा ही तो धर्म है और कर्त्तव्य से विमुख होना ही अधर्म है।

गोपाल—भाई! तुम्हारे इस निष्ठुर मत से मैं सहमत नहीं हो सकता।

गोविन्द-कारण?

गोपाल-कल्पना करो! मुझे कर्त्तव्य-पालन के लिये हज़ार मनुष्यों की हत्या करनी पड़े, तो ऐसे स्थल पर कर्त्तव्य-विमुख होना ही भला है: किन्तु हज़ार आदमियों की हत्या करना अच्छा नहीं।

गोविन्द-किन्तु तुम यह नहीं देखते कि एक हज़ार मनुष्यों को न मारने से, संसार के एक लाख मनुष्यों की हत्या का मार्ग खुल जाता है। यदि हज़ार मनुष्य की हत्या करने से एक लक्ष प्राणियों के प्राण की रक्षा होती है, तो क्या उन एक हज़ार आदमियों की हत्या करना भला नहीं है।

गोपाल-(कुछ सोच कर) भाई! तुम कहते तो ठीक हो।

गोविन्द—अच्छा! मान लो तुम विचारपति के आसन पर बैठे हुए हो। पचकौड़िया एक अपराधी है जो तुम्हारे सामने हत्या के अपराध में अभियुक्त हो उपस्थित किया गया है। अब तुमने सोचा कि पचकौड़िया ने हत्या तो की है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इसकी आश्रयभूत इसकी विधवा वृद्धा माता है, दो विधवा भगिनी हैं, एक युवती स्त्री है और दो छोटे छोटे बालक हैं। यदि तुम पचकौड़िया को प्राण-

दण्ड देते हो, तो उसके परिवार के इतने प्राणी अन्न के लिये दर दर मारे मारे फिरते हैं। साथ ही यदि पचकौड़िया को उसके कुकृत्य का यथोचित दण्ड नहीं दिया जाता, तो वह तुम्हारी दया से लाभ न उठा कर, प्रत्युत अन्य लोगों की प्राण-हत्या करने के लिये उत्साहित होता है। ऐसी दशा में क्या पचकौड़िया को प्राण-दण्ड की आज्ञा तुम न दोगे?

गोपाल—हाँ! अब मैं समझा। अर्जुन यदि युद्ध न करते तो कौरव नित्य सैकड़ों सहस्रों दुष्कर्म करते। इस लिये युद्ध में कौरवों को मारना ही अर्जुन का कर्त्तव्य था। पापी कौरवों के प्रति दया प्रकाश करना अर्जुन का कर्त्तव्य न था। किन्तु ये सब तो तुम अपनी मन गढ़न्त कह रहे हो. भगवद्गीता की बातें कहो।

गोविन्द—अच्छा! अब मैं भगवद्गीता ही का विषय छेड़ता हूँ। अर्जुन जिस समय भ्रान्त-दया-वश कर्त्तव्य-विमुख हुए, श्रीकृष्ण ने उस समय उन्हें अनेक प्रकार से समझाया और उनको कर्त्तव्य-कार्य की ओर प्रवृत्त किया। भगवद्गीता का यही निचोड़ है।

गोपाल—ठीक है! पर अब मुझे यह सुनाओ कि श्रीकृष्ण ने क्या कह कर अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया।

गोविन्द—अच्छा! कहता हूँ, सुनो।

गोपाल—किन्तु पहिले एक बात मुझे और समझा दो।

गोविन्द—क्या?

गोपाल—श्रीकृष्ण ने, साक्षात् परब्रह्म का अवतार हो कर, पाण्डवों ही का पक्ष क्यों लिया?

गोविन्द—श्रीकृष्ण तो दोनों पक्ष वालों को सहायता देने को तयार थे। तयार ही न थे किन्तु दोनों दल वालों को सहायता भी दी थी। दुर्य्योधन को बल द्वारा और पाण्डवों को मंत्रणा द्वारा।

गोपाल-किन्तु! इसमें भी तो श्रीकृष्ण का पक्षपात पाया जाता है।

गोविन्द—पाया जाय! किन्तु श्रीकृष्ण तो सबसे पहले कौरवों के पास इनको मंत्रणा द्वारा सहायता देने के लिये गये थे; पर कौरवों ने उनकी बात न मान कर, शकुनि को अपना मंत्रगुरु बनाया, इस लिये श्रीकृष्ण ने उन्हें परामर्श देना बन्द कर दिया।

गोपाल-तब तो उनका ऐसा करना उचित ही था। भाई गोविन्द तुम्हारे साथ बात चीत करने से मैंने ३ बातें समझीं। अर्थात्:—

(१) गीता में कर्त्तव्य-कार्य करने की शिक्षा है।

(२) अर्जुन का कौरवों को युद्ध में मारना न्याय-सङ्गत था।

(३) श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण कर न्याय और सत्य की रक्षा की।

अब तुम मुझे वे बातें सुनाओ जो अर्जुन से श्रीकृष्ण ने गीता में कहीं।

गोविन्द—अच्छा! सुनो।
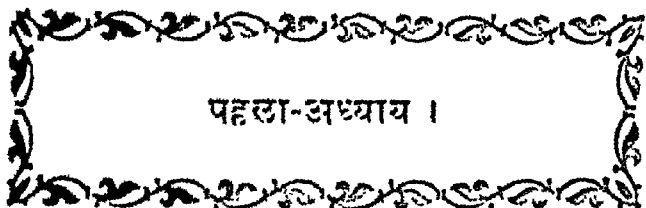
# पहला-अध्याय ।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में जिस समय अर्जुन ने कौरवों की सेना में अपने सम्बन्धियों और पूज्यों को लड़ने के लिये प्रस्तुत देखा, उस समय वे अत्यन्त करुणापूर्ण और खिन्नमना होकर श्रीकृष्ण से कहने लगे—॥ २७ ॥

अर्जुन ने कहा:—

हे कृष्ण ! अपने कुटुम्बियों को युद्ध करने की इच्छा से सम्मुख खड़े देख कर, मेरे सम्पूर्ण अङ्ग ढीले पड़ते जाते हैं, मुख सूखा जाता है, शरीर कम्पायमान और रोमाञ्चित होता है । गाण्डीव-धनुष हाथ से खिसक कर गिरा पड़ता है, और सम्पूर्ण शरीर की त्वचा में जलन सी उत्पन्न हो गयी है ॥ २८-२९ ॥

हे केशव ! स्थिरता के साथ खड़े होने की शक्ति मेरी नष्ट हो गयी है । मुझे चक्कर से आ रहे हैं । मुझे अनेकों अपशकुन दिखलाई पड़ रहे हैं ॥ ३० ॥

युद्ध में अपने भाईबन्धु को मारने से मुझे अपना किसी प्रकार का कल्याण नहीं दिखलाई पड़ता । ऐसी विजय की

बात, सो मुझे जय की इच्छा इस लिये नहीं है कि मैं राज्य सुख के भोग की कामना से रहित हूँ ॥ ३१ ॥

हे गोविन्द! मुझे राजपाट से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं मुझे जीवन धारण करने में भी कोई लाभ नहीं दीख पड़ता। क्योंकि जिनके लिये लोग राज्य, भोग और सुख की इच्छा किया करते हैं, वे आज प्राण और धन की ममता को छोड़ कर, रणभूमि में युद्ध के लिये प्रस्तुत हैं ॥ ३२ ॥

आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, साले और अपने से सम्बन्ध रखने वाले मित्र-गण, धन तथा प्राणों की आशा त्याग कर, युद्ध करने के लिये, रणभूमि में उपस्थित हुए हैं। हे मधुसूदन! यदि ये लोग मेरे ऊपर प्रहार भी करें : तौ भी मैं उनके प्राण लेना नहीं चाहता ॥ ३३-३४ ॥

और तो और, यदि मुझे कोई त्रैलोक्य का साम्राज्य भी दे, तो भी मैं इनकी हत्या न करूँगा : फिर इस तुच्छाति-तुच्छ साधारण पृथिवी के राज्य की प्राप्ति के लिये मैं इनकी हत्या क्यों करने लगा? कभी नहीं, मैं ऐसा कभी न करूँगा। हे जनार्दन! तुम्ही कहो, दुर्योधनादि को मार कर, क्या मैं सुखी हो सकता हूँ ? ॥ ३५ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग आततायी हैं और शास्त्रानुसार आततायियों का वध करने से पाप नहीं लगता तो भी अपने भाईबन्धु, एवम् महाराज धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि पुत्रों को मारना मुझे अच्छा नहीं लगता। यदि ऐसा मैं करूँ तो अवश्य ही मुझे पाप का भागी होना पड़ेगा। हे माधव!

अपने कुटुम्बियों को मार कर, क्या मुझे सुख मिल सकता है? ॥ ३६ ॥

यद्यपि, लोभ में फँस जाने के कारण दुर्योधनादि को, कुल-नाश और मित्रद्रोह से उत्पन्न होने वाली पापराशि नहीं दिखलाई पड़ती : ॥ ३७ ॥

तथापि. हे जनार्दन ! कुलनाश से उत्पन्न होने वाले पापों को जान कर भी मैं उनसे क्यों न बचूँ ? अतः मेरे पक्ष में युद्ध करना सर्वथा अनुचित है ॥ ३८ ॥

क्योंकि कुल का नाश होने पर, परम्परागत, सनातन धर्म नष्ट हो जाता है और धर्म का नाश होते ही बचा हुआ धर्म अधर्म युक्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! कुल में अधर्म फैलते ही कुल की स्त्रियाँ आचार-भ्रष्ट हो जाती हैं और उनके आचार-भ्रष्ट होते ही वर्णसङ्कर ( दोग़ली ) सन्तान उत्पन्न होती है ॥ ४० ॥

ऐसी सन्तान के उत्पन्न होते ही उस कुल और उसके नाशकों को नरक में गिरना पड़ता है और उस धर्महीन कुल में पितृतर्पण एवं पिण्डदानादि का कोई अधिकारी नहीं रहता । इससे उस कुल के पूर्वपुरुषों की सद्गति नहीं होती । वे क्रम से अधोगति को प्राप्त होते चले जाते हैं ॥ ४१ ॥

वर्णसङ्कर सन्तान के उत्पन्न होने के कारण रूप-इन दोषों से कुलनाशक पुरुष के जाति-धर्म, सनातन –कुल-धर्म एवं आश्रम-धर्म, उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

हे जनार्दन ! मैंने सुन रखा है कि जिसके कुल में सनातन-धर्म, जाति-धर्म, और आश्रम-धर्म, नष्ट हो जाते हैं, वह चिर-काल तक नरक में पड़ा पड़ा सड़ा करता है॥ ४३ ॥

बड़े ही खेद और आश्चर्य की बात है जो हमने ऐसे महापातक के करने का विचार निश्चय किया ; साधारण राज्य-सुख को पाने के लिये, हम अपने हितू कुटुम्बियों के प्राण नष्ट करने को उद्यत हुए ! ! ॥ ४४ ॥

अपना बचाव न करते हुए, और हाथ में शस्त्र न रहने पर भी, यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र, इस संग्राम में मुझे मार डालें, तो इसमें भी मेरे लिये भलाई ही है ॥ ४५ ॥

यह कह कर, शोकाकुल अर्जुन ने धनुष बाण रख दिया और वे रथ से उतर कर नीचे बैठ गये ॥ ४६ ॥

# ॥ उपदेश ॥

अर्जुन को उदास मन और साश्रुनयन देख कर, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा ॥ १ ॥

भगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन ! यह क्या ? ऐसे घोर सङ्कट के समय, तुम इस प्रकार मोह के वशवर्त्ती क्यों हो गये ? क्या तुम नहीं जानते कि यह मोह श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, स्वर्ग प्राप्ति में विघ्न-कारक और कीर्त्ति-नाशक है ॥ २ ॥

हे पार्थ ! तुम कातर मत हो । क्योंकि कातर होना, तुम्हें शोभा नहीं देता । हे परन्तप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर उठो ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा :—

वैरियों को नष्ट करने वाले हे श्रीकृष्ण ! जिन भीष्म, द्रोण आदि का पूजन करना चाहिये, उनके ऊपर अस्त्र चला कर, मैं इस युद्ध-भूमि में उनको कैसे मारूँ ? ॥ ४ ॥

महानुभाव कुरुवंशियों का नाश न कर के, यदि इस लोक में मुझे भिक्षा भी माँगनी पड़े, तो भी अच्छा है । इन्हें मारने से

मुझे केवल परलोक ही का भय नहीं है : किन्तु ऐसा करने से मुझे इस लोक में भी अपने भाई बन्धुओं के रुधिर युक्त, अर्थ कामना रूपी भोग्य विषयों का उपभोग करना पड़ेगा ॥ ५ ॥

इस युद्ध में जय और पराजय--इन दोनों में कौन सा मार्ग मेरे लिये अधिक गौरवान्वित होगा--यह मैं निश्चय नहीं कर सकता। क्योंकि जिनको मार कर मैं स्वयं जीवित रहना नहीं चाहता, वे धृतराष्ट्र के पुत्र ही मेरे सामने लड़ने के लिये खड़े हैं ॥ ६ ॥

इस समय मेरी इन्द्रियाँ मेरे वश में नहीं हैं, इसीसे मेरा मन धर्माधर्म के विचार करने में असमर्थ हो रहा है, अतएव मैं आपका शिष्य बन कर और शरणागत हो कर आपसे पूँछता हूँ कि मेरी भलाई जिससे हो, वह बात आप मुझे बतावें ॥ ७ ॥

मुझे इस समय कोई भी ऐसा उपाय नहीं सूझ पड़ता, जिससे समस्त इन्द्रियों को दुःख देने वाली, मन की यह बड़ी भारी विकलता दूर हो। शत्रु रहित समूची पृथिवी का निष्कण्टक राज्य मुझे मिले अथवा स्वर्ग राज्य ही मुझे क्यों न मिल जाय, पर ऐसा होने पर मुझे अपना कल्याण नहीं दिखलाई पड़ता ॥ ८ ॥

ठीक युद्ध के समय, बीचों बीच रणक्षेत्र में, जब अर्जुन ने कहा कि " मैं युद्ध न करूँगा " तब श्रीकृष्ण ने हँस कर कहा ॥ ९-१० ॥

श्रीकृष्ण बोले :—

हे अर्जुन ! जिनके लिये चिन्ता करनी व्यर्थ है उनके लिये व्यर्थ शोक कर के, अविवेकी पुरुष की तरह, तुम काम कर रहे

हो। तुम बातें तो पण्डितों जैसी करते हो, पर काम ऐसा कर रहे हो जो अपने को पण्डित कहने वाला कोई भी पुरुष कभी न करेगा। जो पण्डित होता है, वह न तो जीतों के लिये और न मरों के लिये शोक करता है॥ ११॥

हे अर्जुन! इस शरीर धारण के पूर्व मैं नहीं था या तुम नहीं थे अथवा ये राजा लोग नहीं थे, अथवा इस शरीर को त्यागने के बाद मैं न हाऊँगा, तुम न होगे, या ये राजा लोग न होंगे? नहीं, हम, तुम और ये राजा लोग पहले भी थे और मरने के बाद भी होंगे॥ १२॥

जिस प्रकार इस शरीर ही से मनुष्य बालकपन, युवावस्था वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, उसी प्रकार दूसरे शरीर को प्राप्ति भी शरीर का अवस्थाभेद मात्र है। जो धीर पुरुष हैं वे इन अवस्थाओं में प्राप्त होकर भी मोह में नहीं पड़ते॥ १३॥

हे अर्जुन! इन्द्रियों की सम्पूर्ण वृत्तियों के संसर्ग से, शीत उष्ण और सुख दुःखादि का अनुभव होता है, परन्तु हे भारत! वे सब नाशवान् हैं; अतः जब तक सुख दुःखादि का भोग है, तब तक उसको सहना ही उचित है। इसी प्रकार इष्ट अनिष्ट तो सदा हुआ ही करते हैं, उनके लिये हर्ष विषाद न मान कर, धैर्य्य धर कर उन्हें सहना ही उचित है॥ १४॥

जो धीर पुरुष सुख दुःख को एक सा मानता है, अर्थात् इन्द्रियों की वृत्तियों और विषयों का संसर्ग, जिसको चलायमान नहीं कर सकता, वह ही धर्म और ज्ञान को प्राप्त होता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो जाता है॥ १५॥

जो वस्तु नाशवान् (असत्) है उसकी विद्यमानता अथवा स्थिति का कुछ भी ठीक ठिकाना नहीं और जो वस्तु नाशवान्

नहीं है अर्थात् सत् है उसका अभाव किसी समय नहीं है। जो तत्वज्ञानी हैं, वे सत् असत् अथवा नित्य, अनित्य का वर्णन इसी प्रकार करते हैं ॥ १६ ॥

जो आत्मा, इस प्रपञ्च में जो हमें दिखलाई पड़ रहा है, सत्व रूप से व्याप्त है, वह अविनाशी है । उस अव्यय स्वरूप आत्मा को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

आत्मा नित्य अविनाशी और अप्रमेय है यह नाशवान् शरीर उसी आत्मा का है । यह तत्व-ज्ञानियों का मत है । अतः हे भारत ! तुम युद्ध करो ॥ १८ ॥

यह आत्मा दूसरे का हनन करता है अथवा यह आत्मा दूसरे से हनन किया जाता है, जो ऐसा समझता है—वह आत्मतत्व को नहीं जानता। क्योंकि न तो यह आत्मा किसी को मारता है और न कोई इसे मार ही सकता है ॥ १९ ॥

यह आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है और न इसकी ह्रास वृद्धि होती है : किन्तु यह स्वयं जन्म-रहित होकर चिर काल तक विद्यमान रहता है । आत्मा नित्य, सर्वदा एक रूप में रहता है, वह शाश्वत, क्षयहीन है, वह पुराना होने पर भी नूतन है, वह परिणाम द्वारा रूपान्तरित होने पर नूतन नहीं होता और शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरता । ॥ २० ॥

हे पार्थ ! जो इस आत्मा को क्षय और जन्म-रहित एवं अविनाशी जान रहा है, वह क्यों और किस प्रकार किसीका वध करेगा और किसका वध करावेगा ? ॥ २१ ॥

जिस प्रकार मनुष्य एक पुराने वस्त्र को त्याग कर दूसरा नया वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीव भी एक पुराने शरीर को त्याग कर, दूसरा नया शरीर धारण करता है ॥ २२ ॥

इस आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकते, अग्नि भस्म नहीं कर सकता, जल भिगो नहीं सकता; और वायु सुखा नहीं सकता ॥ २३ ॥

आत्मा ऐसा पदार्थ नहीं जो कट सके, भीग सके, भस्म हो सके और सूख सके—किन्तु यह तो नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल, अनादि, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है। इस लिये आत्मा के ऐसे स्वरूप को जान कर, तुम शोक करना त्याग दो ॥ २४-२५ ॥

आत्मा वारंवार जन्मता है और वारंवार मरता है। यदि तुम ऐसा ही मानते हो, तो भी, हे बड़ी भुजा वाले! तुमको शोकाकुल नहीं होना चाहिये ॥ २६ ॥

क्योंकि जन्म के अनन्तर मृत्यु और मृत्यु के अनन्तर जीवन दशा में किये हुए कर्मानुसार अवश्य जन्म लेना पड़ेगा। इस कारण इस अवश्य होने वाली घटना के लिये शोक करना, तुम्हें शोभा नहीं देता ॥ २७ ॥

ये सम्पूर्ण प्राणी जन्म के पूर्व अदृश्य ( अव्यक्त ) थे और मरने के पीछे फिर अदृश्य हो जाँयगे। ये बीच ही में अर्थात् जन्म के बाद और मरने के पहिले दिखलाई पड़ते हैं। अतएव ऐसे सब भूतों के लिये तुम क्यों शोक करते हो? ॥ २८ ॥

शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा इस आत्म-तत्व को जान कर, कोई आश्चर्य सहित उसे सुनता है, कोई साश्चर्य

उसका कीर्त्तन करता है, कोई स्वयं ग्रहण करता है और कोई इस आत्म-तत्व को सुन कर भी जान नहीं सकता है ॥ २६ ॥

सब के शरीर में यह नित्य और अवध्य आत्मा विराजमान है. इस कारण हे भारत! किसी प्राणी के शरीर-नाश के विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

अर्जुन! अपने क्षत्रिय धर्म की ओर दृष्टि डालने पर भी. युद्ध का स्मरण कर के तुम्हारा काँप उठना ठीक नहीं। क्षत्रियों के लिये धर्मयुद्ध से बढ़ कर. कल्याण करने वाला और कोई धर्म नहीं ॥ ३१ ॥

हे पार्थ! अचानक प्राप्त और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूपी ऐसे युद्ध को जो क्षत्रिय पाते हैं, वे सुख भोगते हैं ॥ ३२ ॥

अब यदि तुम इस धर्मयुद्ध में प्रवृत्त न होगे. तो तुम केवल क्षत्रिय धर्म ही से च्युत न होगे : किन्तु धर्म और यश, दोनों को गँवा कर. पाप के भागी बनोगे ॥ ३३ ॥

और चिरकाल तक प्राणी तुम्हारी अपकीर्त्ति (निन्दा) करेंगे और अपकीर्त्ति या निन्दा प्रतिष्ठित पुरुष के लिये मरने से भी बढ़ कर है ॥ ३४ ॥

जो महारथी तुमको बड़ा पराक्रमी जानते हैं. वे भी तुम्हें भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे और उनमें तुम्हारी बड़ी हलकाई होगी ॥ ३५ ॥

यहाँ तक तो श्रीकृष्ण ने शास्त्रीय युक्ति से अर्जुन को समझाया अब आगे वे लौकिक तर्क और शास्त्र से उन्हें समझाते हैं।

दुर्योधनादि शत्रु भी तुम्हारे बल की निन्दा कर के, न जाने कैसी कैसी अनकहनी बातें कहेंगे, तब इससे बढ़ कर अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! यदि इस युद्ध में तुम मारे भी गये : तो मर कर स्वर्ग में पहुँचोगे और यदि विजयी हुए तो सारी पृथिवी का राज्य पाओगे। इस कारण युद्ध करने का निश्चय कर के खड़े हो जाओ ॥ ३७ ॥

सुख दुःख, हानि लाभ और विजय पराजय, समान जान कर, युद्ध के लिये उद्यत हो जाओ ; ऐसा करने से तुम पाप के भागी न होओगे ॥ ३८ ॥

हे अर्जुन ! यहाँ तक मैंने तुम्हें साँख्य योग के अनुसार आत्म-तत्व समझाया, अब कर्मयोग के अनुसार आत्म-तत्व समझाता हूँ, उसे सुनो। यदि इस कर्मयोग में कहीं तुम्हारी बुद्धि दृढ़ हो गयी, तो तुम कर्मबन्धन से छूट जाओगे ॥ ३९ ॥

जिस निष्काम कर्म के फल का नाश नहीं होता, जिसको यथाविधि न करने पर भी पाप का भागी नहीं बनना पड़ता और जिसका थोड़ा सा अनुष्ठान भी बड़े भारी भय से रक्षा करता है ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! उसी निष्काम कर्म के विषय में उद्योग करने वाली अथवा आत्म-तत्व का निश्चय करने वाली बुद्धि ही बलवती है। नहीं तो कर्ममार्ग में लगे हुए पुरुषों की अनेकों मार्गों पर चलने वाली भिन्न भिन्न प्रकार को बुद्धियाँ हैं हीं ॥ ४१ ॥

हे पार्थ ! जो अविवेकी कामना से व्याकुलचित्त होते हैं : वे स्वर्ग की प्राप्ति ही को परम पुरुषार्थ समझ बैठते हैं। जो

परलोक में स्वर्ग और इस लोक में धन जनादि के साधक कर्म के सिवाय और कोई ईश्वरतत्व नहीं मानते हैं ; जिनके मन स्वर्ग की लालसा आदि अनेकों प्रकार की कामनाओं से भरे हुए हैं और जो पुष्पयुक्त विषलता की समान केवल देखने ही में सुन्दर—भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति के साधन भूत यज्ञादि क्रिया के विषय की चर्चा ही में सदा लगे रहते हैं : जिनका मन भोग ऐश्वर्य आदि में फँसाने वाले और केवल कर्मकाण्ड की प्रशँसा करने वाले सुन्दर वाक्यों ने हर लिया है ; उन मूढ़ पुरुषों की निश्चयात्मक बुद्धि ईश्वरतत्व के प्रति कभी अभिमुख नहीं होती ॥ ४२, ४३, ४४ ॥

हे अर्जुन ! वेद के बहुत से अंश सकाम व्यक्तियों के कर्म-फल प्रतिपादक हैं : किन्तु तुम निष्काम हो । सुख दुःख, शीतोष्णादि को सहो. सर्वदा सत्वगुण का आश्रय ग्रहण करो, अलब्ध वस्तु का लाभ और लब्ध वस्तु की रक्षा से निवृत्त और प्रमाद रहित हो ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार थोड़े जल वाले जलाशयों से स्नान पानादि कार्य होते हैं, उसी प्रकार बड़े लम्बे चौड़े और गहरे जलाशयों से भी उतने ही स्नान पानादि के कार्य होते हैं । वेद-विहित सकाम कर्म्मों के करने पर स्वर्गादिफल रूप जो आनन्द मिलता है –वह ही आनन्द ब्रह्मज्ञानी को मिलता है ॥ ४६ ॥

तुम तत्वज्ञान जानना चाहते हो : अतएव तुम कर्म में लगो : किन्तु संसार के बन्धन के हेतु की चिन्ता मत करो । अर्थात् फल प्राप्ति के लिये तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म की ओर नहीं होनी चाहिये । या कर्म करने के तुम अधिकारी हो किन्तु कर्म फल की प्राप्ति में तुम्हारा अधिकार नहीं है । ॥ ४७ ॥

हे धनञ्जय ! योगस्थ हो कर, अर्थात् एक परमात्मा ही में तत्पर होकर और " मैं अमुक कार्य्य करता हूँ " -इस अभिमान को त्याग कर, एवं कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि में सुख अथवा दुःख न मान कर, निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान कर के जो चित्त की समता प्राप्त होती है, उसका नाम योग है। ॥ ४८ ॥

हे धनञ्जय ! सकाम कर्म, निष्काम कर्म से अत्यन्त निकृष्ट है, इससे तुम आत्म-ज्ञान के लिये निष्काम कर्म करने की इच्छा करो। जो पुरुष किसी फल की इच्छा से कर्मानुष्ठान करते हैं, वे नीच हैं ॥ ४९ ॥

निष्काम कर्म करने वाले पुरुष इस लोक ही में पाप और पुण्य को त्याग देते हैं। इस लिये निष्काम भाव से युद्ध करने में प्रवृत्त हो। क्योंकि निष्काम भाव से कर्म में प्रवृत्त होना ही योग कहलाता है ॥ ५० ॥

निष्काम कर्म करने वाले पण्डित कर्म द्वारा उत्पन्न होने वाले फल को त्याग कर, आत्म साक्षात्कार को प्राप्त होते हैं और जन्म रूपी बन्धन से छूट कर, सब प्रकार के उपद्रवों से रहित —मोक्ष नामक परमपद को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

जिस समय तुम्हारा अन्तःकरण अविवेक रूपी मलिनता को त्याग देगा, उस समय तुम्हारी बुद्धि सुने हुए और सुनने योग्य कर्मफल से विरक्त हो जायगी या हट जायगी ॥ ५२ ॥

अनेक प्रकार के लौकिक और वैदिक विषयों के श्रवण से चलायमान तुम्हारी बुद्धि, जिस समय परमात्मा में निश्चल हो जायगी, उस समय तुम्हें तत्वज्ञान की प्राप्ति होगी ॥ ५३ ॥

इतना सुन कर अर्जुन बोले :—

हे केशव ! योगस्थित, स्थिरबुद्धि (स्थिरप्रज्ञ) पुरुष का क्या लक्षण है ? ऐसा मनुष्य किस प्रकार की बातचीत करता है ? किस प्रकार रहता है ? और किस प्रकार चलता है ? ॥ ५४ ॥

इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा :—

जिस समय योगी पुरुष अपने चित्त में भरी हुई सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर, परमानन्दरूप आत्मा ही से अपने को प्रसन्न रखता है, उस समय वह स्थिरप्रज्ञ कहलाता है। ॥ ५५ ॥

जिसका चित्त दुःख को प्राप्त हो कर, चलायमान नहीं होता, जो विषय सुख की इच्छा से रहित है और जो राग, भय एवं क्रोध से छूट गया है, वह पुरुष ही स्थिर बुद्धि अर्थात् स्थिर-प्रज्ञ है ॥ ५६ ॥

जिनका देहादि सम्पूर्ण पदार्थों में स्नेह नहीं है, जो प्रिय और अप्रिय वस्तु को प्राप्त हो कर, आनन्द तथा खेद नहीं मानते हैं, उन ही की बुद्धि अथवा प्रज्ञा स्थिर है अर्थात् ऐसे ही लोग तत्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ॥ ५७ ॥

कछुवा जिस प्रकार अपने सिर चरण आदि अङ्गों को समेट लेता है, उसी प्रकार जिस समय महात्मा पुरुष अपनी इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से हटा लेते हैं, उस समय उनकी प्रज्ञा स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

जो पुरुष रोग दारिद्र्य आदि कारणों से जब शब्दादि भोगों को प्राप्त नहीं होते, तब उन देहाभिमानी पुरुषों की

इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं; किन्तु उनकी विषय-लालसा दूर नहीं होती। परब्रह्म का साक्षात्कार होने के कारण स्थित प्रज्ञ पुरुष की वासनाएं स्वयं दूर हो जाती हैं ॥ ५९ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! यह बलवान् इन्द्रियों का समूह अत्यन्त यत्न करने वाले विवेकी पुरुषों के मन को भी अपने बल से चलायमान कर देता है ॥ ६० ॥

मेरे अनन्य भक्तों को उचित है कि वे यत्न पूर्वक सम्पूर्ण इन्द्रियों को रोक कर, अपने चित्त को स्वाधीन करें, जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, उसी ही की प्रज्ञा स्थित होती है ॥ ६१ ॥

सदा मन में विषयों को सोचते सोचते उन विषयों में वह मनुष्य आसक्त हो जाता है, फिर उस आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, कामना से ( यदि उस कमाना के पूर्ण होने में किसी प्रकार की बाधा पड़ी, तो ) क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोध से सम्मोह ( हित अनहित के विचार का न होना ); सम्मोह से स्मृति-विभ्रम ( अर्थात् सत्पुरुषों के सदोपदेश का भूल जाना ); स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश और बुद्धि-नाश से मनुष्य स्वयं अपना सर्वनाश कर लेता है ॥ ६३ ॥

जिन लोगों ने मन को अपने वश में कर लिया है, वह राग-द्वेश रहित स्वाधीनचेता पुरुष, इन्द्रियों द्वारा विषय भोग में लिप्त रह कर भी, आत्मप्रसाद रूप शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

इस प्रकार शान्ति के प्राप्त होने पर, उस पुरुष के सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और उस शुद्ध-चित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र ब्रह्म में स्थित हो जाती है ॥ ६५ ॥

जो पुरुष अपने चित्त को अपने वश में नहीं कर सकता उसको न तो ब्रह्म की प्राप्ति होती है और न उसका मन ही आत्मज्ञान में लगता है। आत्मज्ञान रहित पुरुष को शान्ति भी नहीं प्राप्त होती और जिसको शान्ति प्राप्ति नहीं होती, उसको मोक्ष सुख कहाँ? ॥ ६६ ॥

विषय भोग में लिप्त इन्द्रियों में जिस समय एक इन्द्रिय की ओर भी मन दौड़ता है; उस समय मार्ग विस्मृत मल्लाह की नाव को जैसे प्रतिकूल पवन जल में डुबो देता है, उसी प्रकार वह एक इन्द्रिय ही साधक की बुद्धि को हर लेती है अथवा उसे विषय भोग में डुबो देती है ॥ ६७ ॥

अतएव हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों से हट गयी हैं उस ही की प्रज्ञा स्थित है. अर्थात् उसी ही को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है ॥ ६८ ॥

आत्म-साक्षात्कार की बुद्धि अज्ञानी पुरुषों के लिये रात्रि-स्वरुप है, ऐसी रात्रि में इन्द्रियों को वश में रखने वाला ही जागृत रहता है और जिस अविद्या रुपी रात्रि में अज्ञानी पुरुष जागता है. वह अविद्या आत्मज्ञानी स्थिरप्रज्ञ पुरुष के लिये रात्रि स्वरुप है ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार अनेकों नदियों के जल से परिपूर्ण अचल मर्य्याद समुद्र में वर्षा के जल की धारा भी आ कर प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शब्दादि विषय स्थिरप्रज्ञ मुनि में प्रवेश करते हैं. परन्तु उनसे वह महात्मा किसी समय भी चलायमान नहीं होता है: किन्तु शान्ति ही को प्राप्त होता है। विषयों की कामना करने वाले पुरुष को यह शान्ति दुर्लभ है ॥ ७० ॥

जो मनुष्य कामनाओं को त्याग कर तथा स्पृहा ममता और अहंकार रहित होकर संसार में चिरकाल लौं विचरता है—वही स्थिरप्रज्ञ पुरुष शान्ति पाता है ॥ ७१ ॥

हे पार्थ ! यही ब्रह्मज्ञान की निष्ठा है। इस निष्ठा को प्राप्त करने वाला पुरुष संसार की माया में नहीं फँसता। यदि मरते समय मनुष्य क्षण भर को भी इस निष्ठा में स्थित हो जाय. तो निस्सन्देह वह पुरुष ब्रह्म में लय हो जाता है ॥ ७२ ॥
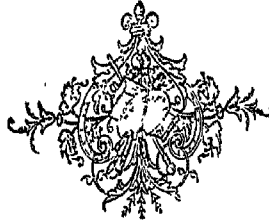
तीसरा-अध्याय।

## कर्म का प्राधान्य।

अर्जुन ने कहा :—

हे जनार्दन! यदि आपकी समझ में निष्काम धर्म की अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव! आप इस महाघोर हिंसात्मक युद्ध रूपी कर्म में मुझे क्यों प्रवृत्त करने का उद्योग करते हो॥ १॥

कभी ज्ञान और कभी कर्म की श्रेष्ठता को सुना कर, आपने मुझे उलझन में डाल रखा है। हे भगवन्! जिससे मेरा कल्याण हो ऐसी एक बात को विचार कर मुझे बतलाइये॥ २॥

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा :—

हे अनघ (पाप रहित!) इस लोक में दो प्रकार की ब्रह्म-निष्ठा हैं—यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। अर्थात् ज्ञानी के लिये ज्ञानयोग और चित्त की शुद्धि के लिये निष्काम कर्म करने की इच्छा करने वाले योगियों के लिये कर्मयोग है॥ ३॥

निष्काम कर्म्मों का अनुष्ठान विना किये ज्ञान (निष्क्रिय-भाव) की उत्पत्ति नहीं होती है। निष्काम कर्म के द्वारा चित्त को शुद्ध किये विना अकेले संन्यास से सिद्धि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति भी कदापि नहीं हो सकती॥ ४॥

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, विना कर्म किये एक क्षण भी नहीं ठहर सकता, क्योंकि प्रकृति के सत्त्वादि गुणों के वशीभूत हो कर, सभी को कर्मों के करने में प्रवृत्त होना पड़ता है ॥ ५ ॥

जो मूढ़ पुरुष वाणी आदि कर्म्मेन्द्रियों को रोक कर मन ही में शब्द रसादि विषयों का स्मरण करता रहता है, वह झूँठा आडम्बर करने वाला कपटी कहलाता है ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मन और ज्ञानेन्द्रियों को रोक कर, फल की इच्छा रहित चित्त से कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म करने में प्रवृत्त होता है, वह अशुद्धचित्त संन्यासी की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। क्योंकि बाहर का कर्म. पुरुषों को बन्धन में नहीं डालता है. किन्तु मन का बर्ताव ही जीव के सुख दुःख और बन्धन का कारण है। इस लिये जिसने यत्न कर के मन को कर्म से हटा लिया है, वही महान् है ॥ ७ ॥

अतः तुम निष्काम हो कर, नित्य नैमित्तिक कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है । क्योंकि यदि तुम कर्म करना ही छोड़ दोगे ; तो तुम अपनी देह की भी रक्षा न कर सकोगे अर्थात् तुम्हारा शरीर नष्ट हो जायगा ॥ ८ ॥

मनुष्य भगवान् की आराधना के लिये कर्म न कर के, अन्य कामनाओं से कर्म करते हुए बन्धन में पड़ते हैं । परन्तु हे कौन्तेय! तुम फल की इच्छा को छोड़ कर, भगवान् की आराधना के लिये कर्म करो ॥ ९ ॥

सृष्टि रचना के प्रारम्भ में प्रजापति ने यज्ञ के अधिकारी जीवों को रच कर यह ही कहा है कि इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होगी। यह यज्ञ ही तुम्हारे मनोवाञ्छित फल को देगा ॥ १० ॥

हे प्रजावर्ग ! यज्ञादि कर्म कर के तुम देवताओं को प्रसन्न करो। देवता भी तुम्हें तुम्हारे मनोवाञ्छित फल दे कर प्रसन्न करें। इस प्रकार परस्पर की प्रसन्नता से तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ११ ॥

यज्ञ से सन्तुष्ट हो कर देवता तुम्हें मनोवाञ्छित भोग देंगे। देवताओं के दिये हुए भोगों को पा कर. जो पुरुष देवताओं को बिना दिये अपने आप ही भोगता है, वह निस्सन्देह चोर है। जो यज्ञ से बचे हुए अन्न को भोजन करते हैं. वे सब पापों से छूट जाते हैं और जो पापी केवल अपना पेट भरने के लिये ही अन्न राँधते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। अतः गृहस्थों को पञ्च-यज्ञ* अवश्य करने चाहिये। ऐसा करने से उनके पञ्चसूना-पाप† नष्ट होते हैं ॥ १३ ॥

अन्न से शरीर उत्पन्न होता है, अन्न मेघ की वर्षा से उत्पन्न होता है, और मेघ यज्ञकर्म से उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

अग्निहोत्रादि सब कर्म वेद से उत्पन्न हुए हैं और वेद ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इस कारण सर्वव्यापी, अविनाशी, परब्रह्म, धर्म रूपी यज्ञ में सदा ही विराजमान रहते हैं ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मनुष्य देह धारण कर के. इस चलते हुए कर्मचक्र के अनुसार नहीं चलता है, उस इन्द्रियों में फँसे हुए पाप-युक्त पुरुष का जीवन वृथा है ॥ १६ ॥

---

*पञ्चयज्ञ—१ ऋषियज्ञ, ( वेदपाठ-सन्ध्योपासनादि ), २ देवयज्ञ ( अग्निहोत्रादि ) ३ भूतयज्ञ ( बलिवैश्वदेव ) ४ नृयज्ञ ( अन्नादि से अतिथि का सत्कार करना ) ५ पितृयज्ञ ( श्राद्ध तर्पण आदि )।

†१ ओखली, २ चक्की, ३ चूल्हा, ४ पनहण्डी और बुहारी के घिसने से जो प्रतिदिन जीवहिंसा होती है—इन्हीं को पञ्चसूना-पाप कहते हैं।

आत्मा ही में जिनका प्रेम है, जो आत्मा ही में तृप्त रहते हैं और जो अन्य भोगों की कामना को त्याग कर आत्मा ही में सन्तुष्ट रहते हैं, उनको कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

इस लोक में ज्ञानी पुरुष को कर्म करने पर पुण्य और कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता, क्योंकि अविद्या जनित मोह छूट जाने के कारण देवमनुष्यादि सम्पूर्ण प्राणियों में मोक्ष के लिये उसको किसी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है ॥ १८ ॥

इस लिये फल की इच्छा को त्याग कर, कर्म करना चहिये. फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करने से मुक्ति मिलती है। इस लिये हे अर्जुन ! तुम निष्काम भाव से कर्म करो ॥ १९ ॥

जनक आदि महात्माओं ने निष्काम कर्म कर के ही ज्ञान पाया, अतः तुम भी उनकी तरह संसार को स्वधर्म में प्रवृत्त करने की ओर दृष्टि रख कर निष्काम कर्म करो ॥ २० ॥

क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार कर्माचरण करते हैं, साधारण पुरुष उन्हींका अनुकरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जिसको ठीक (प्रामाणिक) मानते हैं, साधारण जन भी उसी ही के अनुसार वर्त्ताव करते हैं ॥ २१ ॥

हे पार्थ ! त्रैलोक्य में ऐसा कोई कर्म नहीं जो मुझे कर्त्तव्य हो। क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मेरे पास न हो या जो मुझे न मिल सकती हो ; तिस पर भी मैं कर्म करता हूँ ॥ २२ ॥

यदि आलस्य को छोड़ कर मैं शुभकर्म करने में प्रवृत्त न होऊँ ; तो सब जन मेरा अनुकरण कर, कर्म को त्याग दें ॥ २३ ॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो समस्त प्राणी धर्मलोप हो जाने के कारण भ्रष्ट हो जाँय। ऐसा होने पर सारी प्रजा वर्णसङ्कर हो कर. सब प्राणी नष्ट हो जाँय और इन सब बुराइयों का कारण मैं होऊँ ॥ २४ ॥

हे भारत! अज्ञानी पुरुष, जिस प्रकार आसक्त हो कर, कर्म को करते हैं, संसार को शिक्षा देने की इच्छा करता हुआ, विद्वान् पुरुष भी उसी प्रकार चित्त से आसक्ति को त्याग कर कर्म का अनुष्ठान करे ॥ २५ ॥

विद्वान् पुरुष कर्म करने में तत्पर अज्ञानी जनों की बुद्धि में कदापि भेद या अन्तर न डाले. किन्तु अपने आप भी शुभकर्म का अनुष्ठान कर के उनको कर्ममार्ग में स्थिर रखे ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति, गुण अर्थात् बुद्धि इन्द्रियादि द्वारा हुआ करते हैं; परन्तु अहङ्कार के कारण, इन्द्रियादिकों में आत्मबुद्धि रखने वाला मूढ़बुद्धि पुरुष "मैं ही कर्म करता हूँ"—ऐसा मानता है ॥ २७ ॥

परन्तु हे महाबाहो! आत्मा, गुण एवं कर्म से भिन्न है. ऐसे तत्व को जानने वाला विद्वान् पुरुष, कर्त्ता होने का अभिमान यह जान कर छोड़ देता है कि रुपरसादि कार्य प्रकृति से बुद्धि इन्द्रियादि गुण द्वारा होते हैं। आत्मा तो असङ्ग है ॥ २८ ॥

जो अज्ञानी पुरुष, प्रकृति के सत्वादि गुणों से मोहित हो कर इन्द्रिय और इन्द्रियों के भोगने योग्य विषयों में आसक्त हो गये हैं, आत्मज्ञानी विद्वान् पुरुष. कर्म से उनकी श्रद्धा न हटावें ॥ २९ ॥

अतः तुम सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् को अर्पण कर और कामना, ममता और शोक को त्याग कर, युद्ध करो ॥ ३० ॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त हो कर और दोषदृष्टि को त्याग कर मेरे इस मत के अनुसार नित्य बर्ताव करते हैं वे कर्मजाल से छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

और जो पुरुष दोषदृष्टि से इस मेरे कहने के अनुसार बर्त्ताव नहीं करते, उन अविवेकियों को सब प्रकार के ज्ञान से शून्य और नष्ट हुआ समझो ॥ ३२ ॥

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य्य करते हैं। जब सब ही प्राणी अपनी प्रकृति के वश में हैं, तब फिर उनको मेरी शिक्षा क्या कर सकती है और वे इन्द्रियों का दमन ही क्या कर सकते हैं ? क्योंकि स्वभाव ही बलवान् है ॥ ३३ ॥

सब इन्द्रियों का अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय से द्वेष अवश्य होता है ; किन्तु ये राग एवं द्वेष जीव के परमशत्रु हैं। इससे इनके वश में कदापि नहीं होना चाहिये ॥ ३४ ॥

यदि अपना धर्म पूरा पूरा न कर के थोड़ा बहुत ही कर सके, वह भी दूसरे धर्म के करने से श्रेष्ठ है। क्योंकि परधर्म परम भय-दायक है। अपने धर्म की रक्षा करते समय यदि मर भी जाना पड़े, तो भी कल्याणकारी ही है ॥ ३५ ॥

यह सुन कर, अर्जुन ने कहा :—

हे वार्ष्णेय ! अर्थात् श्रीकृष्ण : यह तो बतलाइये कि पुरुष पापकर्म करने की इच्छा नहीं करता, तो भी बलपूर्वक उसे पापकर्म करने की कौन प्रेरणा करता है ? ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण जी ने कहा :—

हे अर्जुन ! काम ( इच्छा ) और क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की कामना कभी पूरी नहीं होती ; बल्कि यह महा-पाप-रूप है और जब कामना में किसी प्रकार की बाधा

पड़ती है, तब क्रोध उत्पन्न होता है। अतः कर्म करने वाले के लिये कामना घोर शत्रु है, क्योंकि यही उसे पापकर्म में लगाती है ॥ ३७ ॥

जैसे 'धुएं' से अग्नि, मैल से दर्पण, और गर्भ की झिल्ली से गर्भजात बालक ढका रहता है, वैसे ही कामना से ज्ञान ढक जाता है ॥ ३८ ॥

हे कौन्तेय ! ज्ञानी के सदा के शत्रु और कदापि पूर्ण न होने वाले अग्नि तुल्य काम से ज्ञान ढका रहता है ॥ ३९ ॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि कामना के रहने के स्थान कहे जाते हैं। इन ही के द्वारा काम ज्ञान को ढक कर, देहाभिमानी जीव को मोह में फँसा लेता है ॥ ४० ॥

अतः हे अर्जुन ! प्रथम सब इन्द्रियों को वश में कर के, सब पापों के मूलभूत और ज्ञान विज्ञान के नाश करने वाले काम ( कामना ) का नाश करै ॥ ४१ ॥

स्थूल शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं ; इन्द्रियों से मन : मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी जो श्रेष्ठ है—वही आत्मा है ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन ! तुम इस प्रकार आत्मा को जान कर और निश्चय रूपी बुद्धि से मन को स्थिर कर, इस तृष्णा रूपी दुर्जय परम शत्रु काम को नष्ट करो ॥ ४३ ॥

---

# चौथा-अध्याय ।

## दुःख नाश करने वाले कर्मों का वर्णन ।

भगवान् श्रीकृष्ण जी कहने लगे :—

हे अर्जुन! यह कभी नष्ट न होने वाला योग अथवा उपदेश ; जो मैंने अभी तुम्हें बतलाया है, उसे पहले मैंने सूर्य्य को बतलाया था। सूर्य्य ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बतलाया था ॥ १ ॥

हे अर्जुन! इस उपदेश का प्रचार परम्परा की चाल से निमि आदि राजर्षियों तक रहा ; किन्तु काल की गति से पीछे यह नष्ट हो गया ॥ २ ॥

यह योग अथवा उपदेश नया नहीं है : किन्तु अनादि काल ( सदैव ) का है। तुम मेरे मित्र और भक्त हो और यह ज्ञानोपदेश परम उत्तम है, इसीसे मैंने तुम्हें बतलाया है ॥ ३ ॥

यह सुन कर अर्जुन ने पूँछा :—

हे भगवन्! सूर्य का जन्म तो आपके जन्म से बहुत पहले हुआ था, फिर मुझे कैसे विश्वास हो कि सृष्टि की आदि में यह उपदेश आपने सूर्य्य को दिया ॥ ४ ॥

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा :—

हे अर्जुन! हमारे और तुम्हारे इससे पहले हज़ारों जन्म हो चुके हैं; किन्तु मुझे उनकी याद है, तुम्हें नहीं है ॥ ५ ॥

मैं जन्म एवं मरण रहित हो कर भी अपनी प्रकृति में स्थित हो कर अपनी माया के बल से जन्म धारण करता हूँ ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! जिस समय संसार में धर्म की घटती और अधर्म की बढ़ती होती है, तब ही मैं इस धराधाम पर आता हूँ ॥ ७ ॥

साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश तथा धर्म को स्थिर करने के निमित्त ही मैं युग युग में अवतार धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! जो मेरे इस दिव्य जन्म और कर्म के वृत्तान्त को जानता है, वह मरण के अनन्तर फिर जन्म नहीं लेता है और वह मेरे पास आता है ॥ ९ ॥

विषय वासना, भय एवं क्रोध को छोड़ कर और एकाग्र-चित्त हो कर, मेरी ओर मन लगाने वाले और मेरी शरण में आये हुए बहुत से प्राणी ज्ञान एवं तप से पवित्र हो कर, मेरे पास आ चुके हैं ॥ १० ॥

हे अर्जुन! लोग जिस भाव से मुझे भजते हैं, मैं उनको उनकी भावना के अनुसार ही फल देता हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण कर्माधिकारी पुरुष, चाहें जिस भाव से मेरा आराधन करें, वे सब मेरे ही प्रसन्न करने का कारण हैं ॥ ११ ॥

इस लोक में कर्म का फल बहुत शीघ्र मिलता है, इसीसे सकाम पुरुष इन्द्रादि देवताओं का पूजन किया करते हैं ॥ १२ ॥

गुण और कर्मों के तारतम्य के अनुसार मैंने चार वर्णों की रचना की है। तो भी मैं अविनाशी अकर्त्ता हो हूँ ॥ १३ ॥

न तो कर्म मुझे छू सकते हैं और न कर्मफल प्राप्त करने की मुझे वासना है। जो मेरे स्वरूप को इस प्रकार का समझता है, वह कर्म के बन्धन में नहीं फँसता ॥ १४ ॥

आत्मा को इस प्रकार कर्मों का न करने वाला और कर्म फल को न भोगने वाला जान कर, पुराने समय के ज्ञानी जनकादि ने भी कर्म किये—अतः उन्हींका अनुकरण कर, हे अर्जुन! तुम भी निष्काम कर्म करो ॥ १५ ॥

कौन सा कर्म करने योग्य है? कौन सा कर्म करने योग्य नहीं? इस बात का निर्णय करने में बड़े बड़े बुद्धिमान् जन भी चक्कर में पड़ जाते हैं। अतः मैं करने एवं अनकरने कर्मों का वर्णन करता हूँ। उनको जान कर तुम संसार के बन्धन से छूट जाओगे ॥ १६ ॥

कर्म तीन प्रकार के हैं १ विहित कर्म ( करने योग्य कर्म ), २ निषिद्ध कर्म ( बुरे कर्म ) और ३ अकर्म. इन तीन प्रकार के कर्मों का तत्त्व जानना आवश्यक है। क्योंकि इनका रहस्य बड़ा कठिन है ॥ १७ ॥

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखते हैं वे ही मनुष्यों में बुद्धिमान्, वे ही योगी और वे ही सब कर्मों के करने वाले हैं ॥ १८ ॥

जिनके सम्पूर्ण कर्म, कामना के संकल्प से रहित और ज्ञान-रूपी अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, ज्ञानी पुरुष उनको ही पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

जो कर्म और फल में आसक्ति को त्याग कर, सदा तृप्तचित्त और निराश्रय रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता ॥ २० ॥

जो अपने आप मिले हुए पदार्थ से सन्तुष्ट हो जाता है : जो सुख और दुःख दोनों को सह लेता है : जो मत्सरता-रहित है और हानि एवं लाभ को समान समझ कर, दुःखी अथवा सुखी नहीं होता : वह यदि केवल अपने शरीर के निर्वाहार्थ ही कर्म करे, तो भी वह पाप का भागी नहीं होता अर्थात् कर्म के बन्धन रूपी अच्छे बुरे फल पाने का भागी नहीं होता ॥ २१ ॥

जो कामना रहित है, जो कर्त्तापन तथा भोक्तृपन के अभिमान से रहित है, और जिसका मन ब्रह्म स्वरूप में निश्चल भाव से लगा हुआ ( स्थित ) है : वह यदि यज्ञादि कर्म भी करै, तो भी उसका सम्पूर्ण कर्म, फल सहित नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

समर्पण ( आहुति ) ब्रह्म है । ब्रह्मरूपी अग्नि में ब्रह्मरूपी होता के द्वारा होने वाला हवन भी ब्रह्म ही है और यज्ञादि करने से जो स्वर्गादि प्राप्त होता है सो भी ब्रह्म ही है—इस प्रकार कर्म में जिसकी ब्रह्मबुद्धि है, वह ब्रह्म ही को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

कितने ही कर्मानुष्ठान करने वाले योगी दैव-यज्ञ अर्थात् इन्द्रादि देवताओं के निमित्त यज्ञादि कर्म करते हैं और कितने ही ब्रह्म और आत्मा को एक रूप में देखने वाले ज्ञानी योगी ब्रह्म रूपी अग्नि में ( अपनी ) आहुति देते हैं। अर्थात् परब्रह्म में समाधि-द्वारा, जीवात्मा के लय रूप यज्ञ को करते हैं ॥ २४ ॥

कितने ही पुरुष श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में और कितने ही पुरुष शब्दादि विषयों को श्रोत्रादि इन्द्रिय रूपी अग्नि में आहुति देते हैं। अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करना भी एक प्रकार का यज्ञ है ॥ २५ ॥

कोई ऐसे भी योगी होते हैं जो इन्द्रियों के कर्म तथा प्राणादि के कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित होती हुई आत्म-संयम-योग रूपी आग में हवन करते हैं ॥ २६ ॥

कोई कोई पुरुष द्रव्ययज्ञ ( दान-रूपी-यज्ञ ), कोई तपो रूपी यज्ञ, कोई योग ( अर्थात् मन की वृत्ति को रोकना ) यज्ञ, कोई वेदपाठ रूपी यज्ञ, कोई ज्ञानरूपी यज्ञ और कोई यत्नशील पुरुष दृढ़व्रत रूपी यज्ञ करते हैं ॥ २७ ॥

कोई ऐसे भी योगी हैं जो अपान वायु में प्राण की आहुति देते हैं ; प्राण वायु में अपान को आहुति देते हैं और कोई कोई नियमित भोजन करने वाले योगी प्राण और अपान की गति को रोक कर, निरन्तर प्राणायाम करते हुए, प्राण में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की आहुति देते हैं ॥ २८ ॥

ये सब यज्ञ करने वाले पुरुष, यज्ञों के द्वारा निष्पाप हो कर यज्ञ से बचे हुए, अमृत तुल्य अन्न का भोजन करते हुए, सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार यज्ञ न करने वाले, मनुष्य को यह मनुष्य-लोक भी प्राप्त नहीं होता है, फिर स्वर्गादि प्राप्ति की बात ही निराली है ॥ ३० ॥

इस प्रकार बहुत से यज्ञ वेद में वर्णन किये गये हैं। तुम, उन सब यज्ञों को कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों से उत्पन्न होने वाले

हैं और निष्क्रिय आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा जान कर संसार से मुक्त हो जाओगे ॥ ३१ ॥

हे कौन्तेय ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ; क्योंकि हे पार्थ ! सम्पूर्ण कर्मों की आत्मज्ञान में समाप्ति होती है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मज्ञानी गुरु के चरणों में दण्डवत प्रणाम कर के प्रश्न और सेवा करते हुए, आत्मज्ञान की शिक्षा ले, ऐसे वर्त्ताव से ज्ञानवान् तत्त्वदर्शी गुरु शिष्य को ज्ञान का उपदेश करते हैं ॥ ३३ ॥

हे पाण्डव ! उस ज्ञान को प्राप्त हो कर, तुम फिर ऐसे मोह में नहीं पड़ोगे और उस ज्ञान से सब प्राणियों को अपने आत्मा और मुझ परमात्मा के साथ अभेद रूप से देखोगे ॥ ३४ ॥

यदि तुम और सब पापियों से अधिकतर पापाचरण करने वाले हो, तो भी उस पाप रूप समुद्र को ज्ञानरूपी नौका के द्वारा सहज ही में पार कर जाओगे ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी के ढेर को भस्म कर डालता है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है ॥ ३६ ॥

इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र कोई वस्तु नहीं है, उस ज्ञान को योग-सिद्ध-पुरुष अर्थात् कर्मयोग से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, समय पा कर, स्वयं ही पा लेता है ॥ ३७ ॥

जो श्रद्धावान्, गुरु की सेवा शुश्रूषा करने में तत्पर और जितेन्द्रिय है, वह ही आत्मज्ञान को प्राप्त कर के, शीघ्र ही मोक्ष पाता है ॥ ३८ ॥

अज्ञानी श्रद्धाहीन और संशय युक्त पुरुष नष्ट हो जाता है। जो संशयात्मा है अर्थात् बात बात में सन्देह करता है। उसे इस लोक तथा परलोक में—कहीं भी सुख नहीं मिलता ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन ! समता बुद्धि रूपी योग से जिन लोगों ने सम्पूर्ण कर्म भगवान् को समर्पण कर दिये हैं और आत्मज्ञान के द्वारा, जिनके सम्पूर्ण संशय नष्ट हो गये हैं, कर्म उस आत्मज्ञानी को संसार बन्धन में नहीं डाल सकते ॥ ४० ॥

अतएव हे अर्जुन ! ज्ञान रूपी खड्ग से हृदय में स्थित और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले सब संशयों को काट कर, कर्म-योग का आश्रय ग्रहण कर के, तुम युद्ध करने के लिये खड़े हो जाओ ॥ ४१ ॥
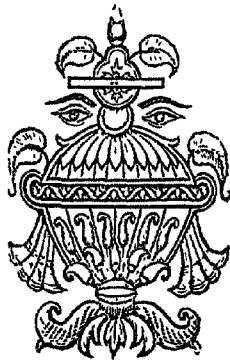
# पाँचवाँ-अध्याय ।

## कर्मयोग और कर्मसंन्यास ।

इसके बाद अर्जुन ने कहा :—

हे कृष्ण ! आपने कर्मयोग ( कामों को करना ) और कर्मसंन्यास ( कामों को छोड़ना ) इन दो का वर्णन किया, परन्तु मेरे लिये इन दोनों में जो कल्याण-कारक हो, निश्चय कर के, उसे ही मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

यह सुन कर, श्रीकृष्ण बोले :—

अर्जुन ! संन्यास और कर्मयोग — दोनों ही मुक्ति देने वाले हैं; किन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! जो न तो किसी से द्वेष रखता है और न जिसे किसी वस्तु की आकाँक्षा है—वही सच्चा और पूरा संन्यासी है । ऐसा पुरुष अनायास, अथवा सहज में संसार के बन्धनों से छूट जाता है ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो पण्डित हैं वे अज्ञानियों की तरह कर्मसंन्यास और कर्मयोग को अलग अलग नहीं समझते । वे दोनों को समान जानते हैं । क्योंकि दोनों का फल एक समान ही है । जो

इन दोनों में से एक का भी आचरण करता है, वह दोनों का फल पाता है ॥ ४ ॥

ज्ञानवान् संन्यासी जिस पद को पहुँच सकते हैं, उसीको कर्मयोगी भी पा सकता है, संन्यास और कर्मयोग को एक समान समझने वाले ही यथार्थ दर्शी हैं ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! कर्मयोग के विना, संन्यास लेना. परम दुःखदायी है ; किन्तु कर्मयोगी बन कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है और शीघ्र ही ब्रह्म का दर्शन भी पाता है ॥ ६ ॥

जो योगनिष्ठ : शुद्धचित्त और जितेन्द्रिय है. तथा जो सब प्राणियों के आत्मा में अपने आत्मा के समान बुद्धि रखता है, वह कर्म करने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानी कर्मयोगी कोई भी कार्य क्यों न हो. उसका करने वाला वह स्वयं अपने को नहीं समझता। वह समझता है कि देखना, सुनना, छूना, सूँघना, चलना, सोना, श्वास लेना, बोलना. छोड़ना, ग्रहण करना, आँखें खोलना, बन्द करना आदि कार्य इन्द्रियों के कर्म हैं। मैं इनका करने वाला नहीं हूँ ॥ ८-६ ॥

जो ईश्वर को कर्म का फल समर्पण कर के, निष्काम भाव से कर्म करता है, वह कमल के पत्ते पर स्थित जल की तरह, कर्म में लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कर्मयोगी फल की इच्छा को त्याग कर, केवल अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों द्वारा कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

कर्मयोगी कर्म के फल को त्याग कर, मोक्ष रूपी शान्ति को पाता है और धन जनादि की इच्छा से कर्म करने वाला पुरुष कामना के कारण फल की प्राप्ति में आसक्त हो कर, बन्धन में पड़ता है ॥ १२ ॥

जितेन्द्रिय आत्मज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को मन से त्याग कर, नवद्वार वाले शरीर रूपी घर में सुख पूर्वक निवास करता है। न तो वह स्वयं कोई काम करता है और न दूसरे से कोई कर्म कराता है ॥ १३ ॥

ईश्वर किसी के शरीर की रचना नहीं करता—न कर्म ही को वह रचता है और कर्मफल के सम्बन्ध की भी वह रचना नहीं करता : किन्तु स्वभाव या अज्ञान रूपी माया ही सब कार्यों में कर्त्ता आदि रूप से प्रवृत्त होती है ॥ १४ ॥

परमेश्वर से और मनुष्यों के पाप पुण्यों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है. पर अविद्या रूपी ढकने से ज्ञान के ढक जाने के कारण जीव मोहित हो रहा है ॥ १५ ॥

जिनका अज्ञान. आत्मविचार से नष्ट हो जाता है, उनका आत्मज्ञान सूर्य्य की तरह ब्रह्म को प्रकाशित कर देता है ॥ १६ ॥

उस ब्रह्म में जिनकी बुद्धि लगी है, उस ब्रह्म में जिनकी निष्ठा है और जो ब्रह्मपरायण हैं तथा ज्ञान द्वारा जो निष्पाप हो गये हैं, वे ही मुक्ति पाने के अधिकारी होते हैं ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष, विद्या विनय-युक्त ब्राह्मण, गौ, हस्ती, श्वान और चाण्डाल आदि सब को एक समान ( बराबर ) समझते हैं। अर्थात् सब में ब्रह्म दृष्टि रखते हैं ॥ १८ ॥

जिनका मन उस समता रूपी ब्रह्म भाव में स्थित है, वे इस लोक में ( जीवित रह कर ) ही संसार को जीत चुके हैं। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सब जगह समान रूप से है : समदर्शी पुरुष उस ब्रह्म ही में अवस्थित रहते हैं ॥ १६ ॥

स्थिर बुद्धि, निर्मोह, ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, प्रियवस्तु की प्राप्ति से प्रसन्न और अप्रिय वस्तु की प्राप्ति से खिन्न नहीं होते हैं ॥ २० ॥

वाह्य शब्दादि विषयों की आसक्ति रहित पुरुष, अन्तःकरण में शान्ति सुख का अनुभव करते हैं और समाधि के द्वारा ब्रह्म में लवलीन हो कर मुक्ति सुख को पाते हैं ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! परिडत पुरुष, इन्द्रियों के विषयों के भोग से उत्पन्न होने वाले सुख में आसक्त नहीं होते हैं, क्योंकि वह दुःख-दायक और क्षण भर में नष्ट होने वाला है ॥ २२ ॥

जो शरीर त्याग से प्रथम ही काम क्रोधादि के वेग को रोकने में समर्थ हो जाता है, वह ही योगी और वही सुखी है ॥ २३ ॥

जिनको आत्मा ही में सुख है, जो आत्मा ही में क्रीड़ा करते हैं और आत्मा ही में जिनका प्रकाश है, वे योगी पुरुष ब्रह्म में लवलीन हो कर, ब्रह्म-निर्वाण-पद को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

जो निष्पाप, संन्यासयुक्त, संशयरहित एकाग्रचित्त और सब प्राणियों के हित करने में तत्पर है, वह ब्रह्म-निर्वाण-पद पाता है ॥ २५ ॥

जिनके हृदय में काम क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते, जिन्होंने चित्त को अपने वश में कर रक्खा है और जिनको आत्मज्ञान हो

गया है, वे जीवित और मृत्यु के पीछे भी—सब अवस्थाओं में ब्रह्म-निर्वाण-पद को पाते हैं ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण बाह्य विषयों के चिन्तवन को मन से दूर कर के तथा दोनों नेत्रों को भौंहों के बीच में लगा कर और प्राण अपान वायु को नासिका में रोक कर, जिन्होंने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीत लिया है और इच्छा, मन, क्रोध को वश में कर लिया है, तथा जो विषय से विरक्त हो गये हैं, वे मननशील संन्यासी सदा मुक्त हैं ॥ २७-२८ ॥

हे अर्जुन ! इन सब साधनों की प्राप्ति हो जाने पर, मनुष्य मुझे यज्ञ एवं तपस्याओं का भोक्ता, सब लोकों का महेश्वर तथा सब प्राणियों का सुहृद जान कर मुक्ति-पद को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

# छठवाँ-अध्याय ।

## योगी और संन्यासी के लक्षण ।

भगवान् फिर बोलेः—

जो कर्मफल को आशा को त्याग कर, नित्य नैमित्तक कर्मों को करता है, वही संन्यासी वही योगी है, वह निरग्नि और निष्क्रिय नहीं है । अर्थात् जिसने केवल अग्निहोत्रादि धर्म कार्यों को छोड़ रखा है, वह संन्यासी नहीं है ॥ १ ॥

हे पाण्डुपुत्र श्रुति जिसको संन्यास नाम से कहती है वही योग है ; क्योंकि संकल्प का त्याग किये विना योगो होना असम्भव है ॥ २ ॥

जो मननशील पुरुष ज्ञानयोग प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसको योगसाधन करने में धर्म का अवलम्बन करना चाहिये और जिसको योग-सिद्धि प्राप्त हो गई है, उसके लिये कर्मसंन्यास ही परम साधन है ॥ ३ ॥

जिस समय मनुष्य विषय और कामों में नहीं फंसता एवं सब प्रकार की वासनाओं को छोड़ देता है, उस समय उसे योगारूढ़ कहते हैं ॥ ४ ॥

जीवात्मा अपने आप ही संसार से अपना उद्धार करे, अविवेकी होकर कदापि अपनी अधोगति न होने दे—क्योंकि आत्मा ही आत्मा का शत्रु और मित्र है। अर्थात् जो मनुष्य ज्ञानी है वह अपने आत्मा का मित्र है और जो अज्ञानी है वह शत्रु है ॥ ५ ॥

जिसने अपने मन तथा अन्य इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया या इन्हें जीत लिया है वही अपना स्वयं मित्र है और जो ऐसा नहीं कर सका या करने में असमर्थ है वह अपने आत्मा का आप ही शत्रु है ॥ ६ ॥

जो जाड़ा गरमी तथा सुख दुःखों को सहने में समर्थ है, या सह लेता है और जो आत्मा, मान अपमान को समान जान कर जितात्मा या जितेन्द्रिय हो कर, परम शान्ति युक्त हो चुका है, उसी आत्मा में परमात्मा विराजमान रहते हैं ॥ ७ ॥

जिनका चित्त ज्ञान और विज्ञान से अत्यन्त तृप्त हो रहा है, जो विकार रहित और जितेन्द्रिय हैं तथा जो सुवर्ण के डेले को मृत्तिका के डेले के समान जानते हैं, वे योगी पुरुष ही योगारूढ़ कहलाते हैं ॥ ८ ॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु, असाधु और अन्य सब प्राणियों में जिसकी समान बुद्धि है वह ही श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगारूढ़ पुरुष निरन्तर निर्जन स्थान में रह कर, देह और अन्तःकरण को वशीभूत करै और आशा तथा परिग्रह को त्याग कर, चित्त को समाधि में लगावे ॥ १० ॥

पवित्र स्थान में अपने आसन को स्थिर करे। आसन न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा हो। पहले कुशा का

उसके ऊपर मृगचर्म को और उसके ऊपर वस्त्र को बिछावे॥ ११॥

ऐसे आसन पर बैठ कर, जितेन्द्रिय और जितक्रिय और सुचित होकर अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिये समाधि लगावे॥ १२॥

योगाभ्यास करने वाला पुरुष यत्नपूर्वक धड़ और ग्रीवा को समान और निश्चल रख कर, नासिका के अग्रभाग को देखे, अन्य ओर को दृष्टि न करे॥ १३॥

तदनन्तर परम शान्त होकर, भय छोड़ कर और ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर, मुझमें मन लगाने वाला, मुझमें लवलीन हो जाता है और ऐसा योगाभ्यासी पुरुष सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो जाता है॥ १४॥

चित्त को अपने वश में रखने वाला योगाभ्यासी पुरुष, मन को रोक कर मेरे स्वरूप अर्थात् निर्वाण रूप परम शान्ति को प्राप्त होता है॥ १५॥

जो पुरुष अधिक अन्न भोजन करने वाला है, या जो बिलकुल अन्न भोजन नहीं करता और जो मनुष्य बहुत सोता है या बिलकुल नहीं सोता—हे अर्जुन! ऐसे पुरुष योगाभ्यास करने के अधिकारी नहीं हैं॥ १६॥

जो नियम से रहता, खाता पीता और काम काज करता है और नियमित रूप से जो ओंकार के जप का यत्न करता है और जो नियम पूर्वक सोता एवं जागता है: वही समाधि-योग में सिद्ध हो कर, दुःखों को दूर करने में समर्थ होता है॥ १७॥

चित्त-संयत कर के जिस समय योगी उसे आत्मा में स्थित करता है और जिस समय उसे किसी बात की स्पर्द्धा नहीं रहती, उस समय ही योगी को योग की सिद्धि होती है ॥ १८ ॥

चित्त रोक कर योगाभ्यास करने वाले पुरुष की अन्तःकरण की वृत्ति वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की शिखा के समान निश्चल होती है ॥ १९ ॥

जिस अवस्था में योगाभ्यास के द्वारा चित्त रुक कर उपराम को प्राप्त हो जाता है, जिस समय शुद्ध अन्तःकरण में आत्म-साक्षात्कार कर के आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है ; ॥ २० ॥

जिस अवस्था में इन्द्रियों के अगोचर और केवल शुद्ध-बुद्धि से ग्रहण करने योग्य परम सुख का योगी अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थिति को प्राप्त कर, योगी आत्मस्वरूप भाव से तिल भर भी चलायमान नहीं होता है ; ॥ २१ ॥

उस अवस्था ही का नाम योग है. अर्थात् जिस अवस्था को प्राप्त हो कर, योगी और किसी लाभ को अधिक नहीं मानता है और जिस अवस्था में स्थित हो कर वह कठिन से कठिन दुःख से भी चलायमान नहीं होता है ॥ २२ ॥

योग की अवस्था में दुःख का लेशमात्र भी नहीं रहता। दुःख प्राप्त होने के भय से अभ्यास में रत योगी को अपने उद्योग में शिथिल न होना चाहिये और निश्चय पूर्वक योग का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये ॥ २३ ॥

योगाभ्यास के समय, संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर और मन के द्वारा इन्द्रियों को विषय व्यापार से हटा कर, वश में करै ॥ २४ ॥

धैर्ययुक्त बुद्धि से योगी धीरे धीरे मन को रोके। आत्मा में मन को लगा कर और कुछ चिन्तवन न करै ॥ २५ ॥

स्वाभाविक चञ्चल मन जिस जिस विषय की ओर दौड़े, उस समय उस विषय से उसे यत्नपूर्वक हटावे और दृढ़ता पूर्वक उसे आत्मा ही में लगावे ॥ २६ ॥

शान्तचित्त योगी का मन जिस समय रज, तम आदि गुणों से रहित हो कर, ब्रह्मरूपत्व को प्राप्त होता है, उस समय वह परम सुखी होता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार मन को वश में करने वाला निष्पाप योगी ब्रह्म के साक्षात्कार रूप, परम सुख को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

योगाभ्यास से जिसका चित्त सावधान हो गया है और जो सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टि ही रखता है, वही योगी अविद्या-रचित-देहादि-उपाधियों-रहित-आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में और सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में, अभेद रूप से देखता है ॥ २९ ॥

जो योगी मुझ आत्म रूप भगवान् को सब प्राणियों में देखता है और मुझमें सम्पूर्ण प्राणियों को देखता है, उस योगी से मैं कभी अदृश्य नहीं रहता और न वह मुझसे अदृश्य रहता है ॥ ३० ॥

जो योगी सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित मुझको अभेद रूप से भजता है, वह चाहे जहाँ रहे, वह मुझीमें रहता है ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपनी तरह दूसरों के सुख दुःखों की ओर भी दृष्टि रखता है, वह ही योगी सब से श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

यह सुन कर, अर्जुन बोले:—

हे मधुसूदन ! आपने समता के द्वारा अर्थात् राग द्वेष को त्याग कर सर्वत्र समदृष्टि रखने के द्वारा जिस योग-तत्व का वर्णन किया, मन की चञ्चलता के कारण उस समता को मैं दीर्घ काल तक ठहरने वाली नहीं समझता हूँ ॥ ३३ ॥

हे कृष्ण ! मन स्वभाव ही से चञ्चल है। देह की सारी इन्द्रियों को यह चलायमान किया करता है, विचार से भी उसको वश में करना दुष्कर है। ऐसे मन को अपने वश में करना उसी प्रकार कठिन है, जैसे वायु को वश में करना ॥ ३४ ॥

इस पर श्री कृष्ण ने कहा:—

हे महाबाहो ! निस्सन्देह चञ्चल मन का वश में करना बड़ा कठिन है, परन्तु यह मन अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में हो सकता है ॥ ३५ ॥

जिसका मन वश में नहीं है, वह योगी नहीं हो सकता। परन्तु चित्त को वश में करने वाला पुरुष उचित उपाय से यत्न करता हुआ, क्रम से योगी हो सकता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन कहने लगे:—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धायुक्त हो कर योगसाधन में विशेष यत्न नहीं करता; अथवा योगसाधन करते करते चित्त की चञ्चलता के कारण भ्रष्ट हो जाता है, वह योगसिद्धि को प्राप्त न हो कर, किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

कर्म और ज्ञान इन दोनों के मार्ग से
भिन्न हुए मेघों के समान नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥

हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देह को आप पूर्ण रीति से दूर कर दीजिये। क्योंकि सिवाय आपके दूसरा कोई भी मेरे सन्देहों को नहीं मिटा सकता ॥ ३९ ॥

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण जी ने कहा :—

हे अर्जुन ! योगभ्रष्ट पुरुष इस लोक अथवा परलोक में नष्ट नहीं होता। यही नहीं ; किन्तु जो शास्त्र में कही विधि के अनुसार कार्य करता है, उसकी भी कभी दुर्गति नहीं होती ॥ ४० ॥

योगभ्रष्ट पुण्यात्मा पुरुष मरने के बाद उचित लोकों में पहुँच कर, वहाँ अनेक वर्षों तक रहते हैं। फिर पृथिवी पर आ कर श्रीमानों के घर में जन्म लेते हैं ॥ ४१ ॥

अथवा योगभ्रष्ट पुण्यात्मा जन किसी योगी के घर में जन्म लेता है। ऐसा जन्म जगत में दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन ! योगभ्रष्ट को, जन्मधारण करने पर उसके पूर्व-देह-संस्कार के अनुसार, ज्ञान-दायक-बुद्धि होती है। इसीसे वह मुक्ति के लिये अधिकतर यत्न करता है ॥ ४३ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष, यत्न न भी करै, तो भी पूर्वाभ्यास के कारण ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त होता है। आत्मतत्व जानने की इच्छा होने पर वेदोक्त-कर्म के फल से भी अधिक फल उसे मिलता है ॥ ४४ ॥

जो योगी पुरुष, पूर्व प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करता है और निष्पाप हो कर, जन्मजन्मान्तरों के पुण्य-फल से ऐसा

जन्मधारण करता है. वह योगसिद्धि के द्वारा पूर्ण ज्ञानी हो कर मुक्ति पाता है॥ ४५॥

तत्वज्ञानी योगी, तपस्वियों ज्ञानियों और अग्निहोत्रियों से भी श्रेष्ठ है. इस लिये हे अर्जुन ! तुम भी योगी बनो ॥ ४६ ॥

योगियों में जो मुझमें मन लगा कर. केवल मेरी ही आराधना करता है. वह सब से परम श्रेष्ठ है और मुझे प्रिय है॥ ४७॥
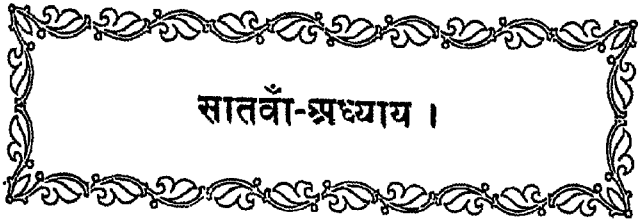
# सातवाँ-अध्याय ।

## ज्ञान की व्याख्या ।

भगवान् श्री कृष्ण जी ने फिर कहा :—

हे अर्जुन ! अब मैं तुम्हें वे उपाय बतलाता हूँ, जिनसे तुम मेरे अनन्य भक्त हो कर, मुझे भली भाँति जान सको ॥ १ ॥

मैं तुम्हें अब साधन फलादि सहित ज्ञान का वर्णन सुनाता हूँ, उसे जान कर मनुष्य के लिये फिर कोई बात जानने योग्य नहीं बच रहती ॥ २ ॥

हज़ारों मनुष्यों में कोई एकाध मनुष्य ही सिद्धि पाने के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में कोई बिरला ही मेरे स्वरूप के तत्त्व को जान पाता है ॥ ३ ॥

पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार- ये आठ प्रकार की प्रकृति हैं ॥ ४ ॥

इन आठ प्रकार की प्रकृतियों का नाम अपरा ( अर्थात् निम्न श्रेणी ) है । इस प्रकृति की विरुद्ध जीव रूपी प्रकृति सम्पूर्ण जगत् का आधार है और उसका नाम परा ( अर्थात् उच्चश्रेणी ) है ॥ ५ ॥

सारे प्राणी इन आठ प्रकार की प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का मैं ही कारण हूँ ॥ ६ ॥

हे धनञ्जय! इस संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो मुझसे भिन्न हो। इस संसार में मैं व्याप्त हूँ। मुझसे रहित कोई वस्तु नहीं है ॥ ७ ॥

जल में रसीलापन मैं हूँ, चन्द्र और सूर्य्य में प्रकाश मैं ही हूँ : सब वेदों में प्रणव रूपी और मनुष्यों में पुरुषार्थ रूपी मैं ही हूँ ॥

पृथिवी में पवित्र गन्ध रूपी और अग्नि में तेजोरूप मैं ही हूँ ; सब प्राणियों में जीवन रूप और तपस्वियों में तपोरूप मैं ही हूँ ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! मुझे तुम सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन बीज रूप जानो ; बुद्धिमानों और तेजस्वियों में तेजोरूप मैं ही हूँ ॥ १० ॥

हे भरतर्षभ! बलवानों में कामराग सहित बलरूप और सम्पूर्ण प्राणियों में धर्म में बाधा न डालने वाला काम रूप मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

सात्विक्, राजसिक और तामसिक जितने पदार्थ हैं—वे सब मुझ ही से उत्पन्न हुए हैं : परन्तु मैं उनके अधीन नहीं हूँ. वे ही मेरे आश्रित हैं ॥ १२ ॥

इन सत्वादि त्रिगुणमय भावों कर के यह सम्पूर्ण जगत् मोहित हो रहा है ; इसी कारण इन तीनों गुणों से यह मुझे नहीं जानता है ॥ १३ ॥

यह सत्वादि त्रिगुणमयी मेरी अलौकिक माया है; निस्सन्देह इससे पार पाना अति कठिन है; परन्तु जो पुरुष केवल मेरी ही शरणागत हो कर आराधना करते हैं, वे इस दुस्तर माया को भी तर जाते हैं ॥ १४ ॥

जो पाप कर्म करने वाले और झूठे अधम पुरुष हैं ; जिनका ज्ञान माया ने हर गया है और जिनमें दम्भ, अभिमान आदि के कारण आसुरी भाव आ गया है—वे मुझसे नहीं मिल सकते ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! आर्त्त[1], जिज्ञासु[2], अर्थार्थी[3] और ज्ञानी[4]—चार प्रकार के पुरुष मेरा भजन करते हैं ॥ १६ ॥

इन चार प्रकार के भक्तों में, मेरे में सदा निष्ठा रखने वाला ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है, मैं ज्ञानियों का बड़ा प्यारा हूँ और ज्ञानी भी मुझे परम प्रिय हैं ॥ १७ ॥

चारों प्रकार के भक्त मोक्ष को प्राप्त होते हैं ; परन्तु ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा रूप है । क्योंकि ज्ञानी सब से श्रेष्ठगति रूप मेरा ही आश्रय रखता है ॥ १८ ॥

अनेक जन्मों में ज्ञानसञ्चय कर के मनुष्य सम्पूर्ण जगत् को वासुदेव रूप समझता है । जब उसमें यह अभेद दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तब वह मुझे प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

---

१ रोगादि से दुःखित "आर्त्त" कहलाते हैं ।

२ आत्मतत्व को जानने की इच्छा करने वाले "जिज्ञासु" कहलाते हैं ।

३ इस लोक और परलोक में भोग के साधन भूत पदार्थों की इच्छा रखने वालों की "अर्थार्थी" संज्ञा है ।

४ आत्मतत्व को जानने वाले "ज्ञानी" होते हैं ।

सारे प्राणी इन आठ प्रकार की प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का मैं ही कारण हूँ ॥ ६ ॥

हे धनञ्जय ! इस संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो मुझसे भिन्न हो। इस संसार में मैं व्याप्त हूँ। मुझसे रहित कोई वस्तु नहीं है ॥ ७ ॥

जल में रसीलापन मैं हूँ, चन्द्र और सूर्य्य में प्रकाश मैं ही हूँ ; सब वेदों में प्रणव रूपी और मनुष्यों में पुरुषार्थ रूपी मैं ही हूँ ॥

पृथिवी में पवित्र गन्ध रूपी और अग्नि में तेजोरूप मैं ही हूँ ; सब प्राणियों में जीवन रूप और तपस्वियों में तपोरूप मैं ही हूँ ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मुझे तुम सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन बीज रूप जानो ; बुद्धिमानों और तेजस्वियों में तेजोरूप मैं ही हूँ ॥ १० ॥

हे भरतर्षभ ! बलवानों में कामराग सहित बलरूप और सम्पूर्ण प्राणियों में धर्म में बाधा न डालने वाला काम रूप मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

सात्विक्, राजसिक और तामसिक जितने पदार्थ हैं—वे सब मुझ ही से उत्पन्न हुए हैं ; परन्तु मैं उनके अधीन नहीं हूँ, वे ही मेरे आश्रित हैं ॥ १२ ॥

इन सत्वादि त्रिगुणमय भावों कर के यह सम्पूर्ण जगत् मोहित हो रहा है ; इसी कारण इन तीनों गुणों से यह मुझे नहीं जानता है ॥ १३ ॥

यह सत्वादि त्रिगुणमयी मेरी अलौकिक माया है; निस्सन्देह इससे पार पाना अति कठिन है; परन्तु जो पुरुष केवल मेरी ही शरणागत हो कर आराधना करते हैं, वे इस दुस्तर माया को भी तर जाते हैं ॥ १४ ॥

जो पाप कर्म करने वाले और झूठे अधम पुरुष हैं; जिनका ज्ञान माया से हर गया है और जिनमें दम्भ, अभिमान आदि के कारण आसुरी भाव आ गया है—वे मुझसे नहीं मिल सकते ॥ १५ ॥

हे अर्जुन! आर्त्त[1], जिज्ञासु[2], अर्थार्थी[3] और ज्ञानी[4]—चार प्रकार के पुरुष मेरा भजन करते हैं ॥ १६ ॥

इन चार प्रकार के भक्तों में, मेरे में सदा निष्ठा रखने वाला ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है, मैं ज्ञानियों का बड़ा प्यारा हूँ और ज्ञानी भी मुझे परम प्रिय हैं ॥ १७ ॥

चारों प्रकार के भक्त मोक्ष को प्राप्त होते हैं; परन्तु ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा रूप है। क्योंकि ज्ञानी सब से श्रेष्ठगति रूप मेरा ही आश्रय रखता है ॥ १८ ॥

अनेक जन्मों में ज्ञानसञ्चय करने के मनुष्य सम्पूर्ण जगत् को वासुदेव रूप समझता है। जब उसमें यह अभेद दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तब वह मुझे प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

---

१ रोगादि से दुःखित "आर्त्त" कहलाते हैं।

२ आत्मतत्व को जानने की इच्छा करने वाले "जिज्ञासु" कहलाते हैं।

३ इस लोक और परलोक में भोग के साधन भूत पदार्थों की इच्छा रखने वालों की "अर्थार्थी" संज्ञा है।

४ आत्मतत्व को जानने वाले "ज्ञानी" होते हैं।

जिनका तत्वज्ञान नष्ट हो गया है, वे अपने पूर्वजन्मों के अनुसार अनेक नियमों को स्वीकार कर, अपनी प्रकृति के अधीन हो, देवताओं की उपासना करते हैं॥ २० ॥

जो जो भक्त देवता स्वरूप जिस मूर्त्ति को श्रद्धा से पूजा करने की इच्छा करते हैं : मैं उन उन भक्तों को उसी उसी मूर्त्ति विषयक वैसी ही दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करता हूँ ॥ २१ ॥

जब वे भक्त उसी श्रद्धा से उस मूर्त्ति की आराधना करते हैं, तब मैं उनके संकल्पानुसार उनकी कामनाओं को पूरा करता हूँ ॥ २२ ॥

किन्तु अल्पबुद्धियों का वह फल भी क्षणस्थायी है : क्योंकि देवपूजन के प्रभाव से उस देवता की आराधना करने वाला, मरने पर उस देवता के लोक में जाता है और जो मेरी आराधना करता है, वह अनादि अनन्त, परमानन्द-स्वरूप मुझको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

अविवेकी पुरुष, मुझे अविनाशी और सर्वोत्तम रूपी न जान कर, मुझ अव्यक्त* रूप को व्यक्ति† रूप मानते हैं ॥ २४ ॥

मैं सब के लिये प्रकट नहीं होता हूँ, क्योंकि मैं अपनी योग-माया से ढका रहता हूँ। इसीसे मूढ़ पुरुष, मेरे अजन्मा, अविनाशी रूप को नहीं जान सकते हैं ॥ २५ ॥

मैं बीते हुए, वर्त्तमान और होने वाले तीनों कालों की सम्पूर्ण घटनाओं को जानता हूँ, परन्तु हे अर्जुन ! मुझे कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

---

* प्रपञ्चातीत = प्रपञ्च के अतीत को "अव्यक्त" कहते हैं।

† मनुष्य आदि भाव को व्यक्त कहते हैं।

हे परन्तप ! प्राणियों को स्थूल शरीर के कारण, इच्छा द्वेष आदि उत्पन्न होने वाले शीत उष्ण आदि के कारण मोह हो जाता है ॥ २७ ॥

जिनके पाप पुण्य कर्मों के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, वे मोह रहित पुरुष, अनन्य चित्त से मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥

जो पुरुष जरामरण को निवारण करने के निमित्त मुझ सगुण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण कर, साधना करते हैं—वे तत्पद के लक्ष्यार्थ रूपी परब्रह्म,* कर्म* और अध्यात्म* को जानते हैं ॥ २९ ॥

जो पुरुष अधिभूत,* अधिदेव* और अधियज्ञ* के साथ मेरा चिन्तवन करते हैं—वे युक्तचित्त हो कर, मरण काल में भी मुझे नहीं भूलते ॥ ३० ॥

* इन शब्दों की परिभाषाएं आठवें अध्याय में देखो ।

# आठवाँ-अध्याय।

## अन्तिम भावना का फल।

अर्जुन बोले :—

हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म किसको कहते हैं? कर्म क्या है? अधिभूत किसको कहते हैं? और अधिदैव क्या कहाता है? ॥ १ ॥

अधियज्ञ किस प्रकार इस शरीर के भीतर वाहिर स्थित रहता है? और मरते समय संयतचित्त पुरुष आपको किस प्रकार से जान सकते हैं? ॥ २ ॥

यह सुन कर, श्रीभगवान् बोले कि जो परम अक्षर (जगत्) का मूल कारण है, वही ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म कहलाता है. प्राणियों को उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला यज्ञादि ही कर्म कहलाता है ॥ ३ ॥

हे जीवसत्तम अर्जुन! नश्वर (नाशवान्) पदार्थ अधिभूत, हिरण्यनामा पुरुष अधिदैव और विष्णु स्वरूप मैं अधियज्ञ हूँ। अधियज्ञ पुरुष ही मनुष्य के शरीर में विद्यमान है ॥ ४ ॥

जो पुरुष मरते समय भी भगवान् का चिन्तवन कर के, शरीर को त्याग कर के जाते हैं, हे अर्जुन! वे पुरुष मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होते हैं—इसमें तिल भर भी सन्देह नहीं ॥ ५ ॥

हे कौन्तेय! जिन जिन भावों को स्मरण करता हुआ : मनुष्य शरीर त्याग करता है ; वह सदा उस भाव का चिन्तवन करते रहने के कारण उस ही भाव को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इस कारण सदा मेरा स्मरण कर और युद्ध करने में प्रवृत्त हो तथा मन और बुद्धि भी मेरे ही अर्पण कर, तब तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

हे पार्थ! निरन्तर परमात्मा के चिन्तवन के द्वारा अभ्यास रूपी योग करने वाला और एक परमात्मा की ओर ही चित्त को लगाने वाला पुरुष, उस दिव्य परमात्मा ही को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ, अनादि, सब जगत् के नियन्ता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सम्पूर्ण जगत् के विधाता अचिन्त्य रूप, सूर्य्य के समान अपने और दूसरे के प्रकाश करने वाले, तथा प्रकृति से परे, परम दिव्य पुरुष का जो पुण्यात्मा, मरते समय भक्तियुक्त हो कर निश्चल मन से योग के प्रभाव से प्राणों को भौंहों के बीच में भली भाँति रख कर, स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष ही को प्राप्त होता है ॥ ९-१० ॥

वेदवेत्ता पुरुष जिसको अविनाशी कहते हैं, वीतराग संन्यासी ज्ञान प्राप्त होने पर, जिसमें लवलीन हो जाते हैं और ब्रह्मचारी जिसको जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं, अपने उस पद ही का संक्षेप से मैं वर्णन करूँगा ॥ ११ ॥

जो उपासक सब इन्द्रिय रूप द्वारों को बन्द कर के और मन को हृदय में रोक कर तथा प्राणवायु को मस्तक में स्थिर कर के आत्म समाधि का साधन करता है और " ओं " इस ब्रह्मरूप अक्षर का उच्चारण करता तथा मुझ परमेश्वर का चिन्तवन करता हुआ शरीर को त्यागता है. वह परमगति को प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥

हे पार्थ ! जो चित्त से अन्य भावनाओं को दूर कर के, प्रतिदिन निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है उस सावधान चित्त योगी को मैं सहज ही में मिल जाता हूँ ॥ १४ ॥

ऐसे उपासक मुझको प्राप्त हो कर. फिर अनेकों दुःखों के स्थान रूप अनित्य जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परम सिद्धि रूपी मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥

ब्रह्मलोक को आदि ले कर सम्पूर्ण ही लोकों के निवासी वारंवार जन्म मरण को प्राप्त होते हैं, परन्तु हे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त हो कर, फिर जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

जो चार सहस्र युग, प्रमाण वाले ब्रह्मा जी के दिन को और चार सहस्र युग प्रमाण वाली ब्रह्मा जी की रात्रि को जानते हैं, वे योगी पुरुष ही दिन रात को जानते हैं और इस साधारण रात दिन को जानने वाले तो असंख्यों उत्पन्न और मृत होते ही रहते हैं ॥ १७ ॥

ब्रह्मा जी का दिन आने पर अव्यक्त कारण रूप से सम्पूर्ण व्यक्ति अर्थात् स्थावर जङ्गम रूपी प्राणी उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा जी की रात्रि आने पर वे सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त रूप कारण में लय को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

हे पार्थ ! जो पूर्व कल्प में थे वे ही सब प्राणी उत्तर कल्प में ( ब्रह्मा जी का दिन आने पर ) उत्पन्न हो कर, ब्रह्मा जी की रात आने पर लय को प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

परन्तु उस चराचर का कारण रूप अव्यक्त से भी परे अर्थात् उसका भी कारण रूप मन बुद्धि इन्द्रियों से जानने में न आने वाला जो अनादि सत्तामात्र पदार्थ है, सो नित्य है. वह ब्रह्मादि सकल प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ॥ २० ॥

उस अक्षय अव्यक्त सत्ता रूप को श्रुति स्मृति जीव की परमा-गति वर्णन करती हैं। उस सत्ता रूपी भाव को प्राप्त हो कर, फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता, वही मेरा सर्वोत्तम धाम है ॥ २१ ॥

हे पार्थ वह परम पुरुष अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त होता है, सम्पूर्ण प्राणी उसके भीतर रहते हैं और सम्पूर्ण जगत् उससे व्याप्त है ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! जिस समय प्रयाण ( गमन ) करने पर योगी ( ज्ञानी और कर्मनिष्ठ ) अनावृत्ति ( मोक्ष ) और आवृति (जन्म मरणादि रूपी बन्धन ) को प्राप्त होते हैं, उस काल का वर्णन करता हूँ ॥ २३ ॥

जहाँ ज्योति रूपी अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष और छः मास उत्तरायण आदि हैं, उस देवयान मार्ग से गमन कर के सगुण ब्रह्म के उपासक पुरुष, सगुण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

जहाँ धूमरात्रि कृष्णपक्ष और छः मास दक्षिणायन आदि हैं, उस पितृयान मार्ग से गमन कर के कर्म्मोपासक पुरुष

चन्द्रलोक को प्राप्त हो कर और वहाँ कर्मफल को भोग कर फिर भू लोक में आ कर जन्म धारण करते हैं ॥ २५ ॥

शुक्ल ( देवयान ) और कृष्ण ( पितृयान ) ये दोनों मार्ग जगत् में अनादि से चले आते हैं, इनमें से पहले रास्ते से जाने वाले की मोक्ष होती है और दूसरे मार्ग से जाने वालों को फिर से जन्म लेना पड़ता है ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! इन दोनों मार्ग के तत्त्व को जान कर कोई भी योगी मोहित नहीं होता है, अर्थात् सुख की बुद्धि से स्वर्गादि फल पाने की इच्छा नहीं करता है, इस कारण हे अर्जुन ! तुम भी सब काल में योगयुक्त रहो ॥ २७ ॥

वेदों का पाठ करने पर, अनेकों प्रकार के यज्ञ करने पर, तपस्या के करने पर और नाना प्रकार के दान करने पर जो पुण्य-फल शास्त्रों में कहा है, इस मेरे कहे हुए तत्व को जान कर योगी सम्पूर्ण पुण्यफलों को उल्लङ्घन कर परमोत्तम. कारण रूपी स्थान ( ब्रह्म ) को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

# नवाँ-अध्याय ।

## सर्वस्व ईश्वर को अर्पण करो ।

श्री भगवान् कहने लगे :
हे अर्जुन ! तुम असूया ( पराये गुणों में दोष लगाना ) आदि दोषों से रहित हो. इस कारण मैं तुमसे विज्ञान सहित ज्ञानतत्व कहता हूँ ; जिसको जान कर तुम संसारबन्धन से छूट जाओगे ॥ १ ॥

यह आत्मज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब गुप्त पदार्थों का राजा और सर्वोत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष ज्ञानदाता, सब धर्मों का फल रूपी सुख से करने योग्य और अक्षय फल का देने वाला है ॥ २ ॥

इस आत्मज्ञान रूपी धर्म में जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह मुझको प्राप्त न हो कर, निरन्तर मृत्यु से भरे हुए संसार मार्ग में घूमता रहता है ॥ ३ ॥

अव्यक्त रूपी मैं इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो रहा हूँ । सब भूत मुझ चैतन्य स्वरूप में स्थित हैं । परन्तु मैं गुण क्रियादि रहित होने के कारण किसी में स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

तुम मेरे योग-प्रभाव को देखो सर्वभूत मुझमें स्थित नहीं करते हैं, क्योंकि मैं असङ्ग हूँ । मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप, सम्पूर्ण भूतों को धारण और उत्पन्न कर के भी भूतों में स्थित नहीं है ॥ ५ ॥

सर्वत्र जाने वाला, परम वेगवान् वायु जिस प्रकार नित्य असङ्ग भाव से आकाश में स्थित रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत ( चराचर ) मेरे में स्थित हैं । यह तुम निश्चित जानो ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! प्रलय काल में यह सब चराचर भूत मेरी शक्ति रूपी त्रिगुणात्मिका प्रकृति में लीन हो जाते हैं और सृष्टि काल में फिर मैं उन सब चराचर भूतों को उत्पन्न कर देता हूँ ॥ ७ ॥

मैं अपनी मायारूपी प्रकृति का आश्रय कर के उसके प्रभाव से कर्मफल के वशीभूत इन सम्पूर्ण प्राणियों को बार बार रचता हूँ ॥ ८ ॥

हे धनञ्जय ! उन कर्मों में आसक्ति रहित हो कर उदासीन के समान स्थित मुझको, सृष्ट्यादि कर्म बाँध नहीं सकते हैं ॥ ९ ॥

केवल साक्षी अथवा देखने वाली प्रकृति ही मुझको अव-लम्बन कर के इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और मेरी अधिष्ठान सत्ता के प्रभाव ही से यह जगत् नाना रूप से बराबर उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

अज्ञानी पुरुष मेरे सर्वभूत महेश्वर स्वरूप का परमार्थतत्व न जान कर, मनुष्य शरीर धारण करने पर, मेरी अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥

वह पुरुष बुद्धि को बिगाड़ने वाली राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति के वश में हो जाने के कारण निष्फल कर्म करने वाले और विपरीत ज्ञान वाले तथा विक्षिप्त चित्त हो रहे हैं ॥ १२ ॥

हे अर्जुन! जो दैवी प्रकृति को आश्रय कर के केवल मुझ ही में अनन्य भाव से चित्त को लगाते हैं, वे ही महात्मा पुरुष मुझे सर्वभूतों का कारण और अविनाशी जान कर भजते हैं ॥ १३ ॥

वे महात्मा सदा मेरे नामों का कीर्तन करते हुए और प्रयत्न पूर्वक दृढ़ व्रत होकर, मुझे नमस्कार करते हुए निरन्तर सावधान चित्त हो कर, मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

कोई कोई महात्मा ज्ञान रूपी यज्ञ कर के मेरी उपासना करते हैं। कोई कोई मुझसे अपने को अभिन्न रूप चिन्तवन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। कोई कोई प्रथक भाव से अर्थात् " हे प्रभो! आप स्वामी हैं और मैं आपका दास हूँ " इस भाव से मेरी उपासना करते हैं और कोई कोई मुझ सर्वात्मा की ब्रह्म रुद्रादि रूप से उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण जी सर्वात्म रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! मैं ही वेदों में कहे हुए अग्निष्टोमादि यज्ञ रूपी हूँ, मैं ही स्मृतियों में कहे हुए पञ्चमहायज्ञ रूपी हूँ। मैं ही स्वधा अर्थात् पितरों के लिये श्राद्धादि रूपी हूँ। मैं ही अन्न हूँ, मैं ही मंत्र हूँ, मैं ही हवन का साधन घी आदि हूँ, मैं ही अग्नि और मैं ही होम हूँ ॥ १६ ॥

मैं ही इस जगत् का पिता माता विधाता ( कर्म फल का देने वाला ) और पितामह हूँ और मैं ही जानने योग्य पदार्थों

को पवित्र करने वाला "ओंकार" तथा ऋक् यजु और साम वेद रूपी हूँ ॥ १७ ॥

मैं ही जगत् की गति मैं पालन करने वाला मैं ही नियन्ता, मैं ही साक्षी ( शुभ अशुभ का देखने वाला ), मैं ही आश्रय, मैं ही रक्षक, मैं ही हितकारी, मैं ही उत्पन्न करने वाला, मैं ही प्रलय करने वाला, मैं हो आधार, मैं ही निधान (प्रलय का स्थान) मैं ही कारण और मैं ही अविनाशी हूँ ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! मैं ही सूर्य्य रूप से ताप देता हूँ, मैं ही जल को वर्षाता और खींचता हूँ। मैं ही जीवन हूँ, मैं ही मृत्यु रूपी हूँ, मैं ही स्थूल और सूक्ष्म रूप हूँ ॥ १९ ॥

तीनों वेदों के पारगामी पुरुष यज्ञों के द्वारा मेरा पूजन कर के यज्ञ में बचे हुए सोम को पीने से निष्पाप हो कर ( कामना के वश में हो कर ) स्वर्गप्राप्ति की प्रार्थना करते हैं और वे सकाम पुरुष पुण्यों के फल रूपी इन्द्रलोक ( स्वर्ग ) को प्राप्त हो कर, वहाँ देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥ २० ॥

( परन्तु भोग चिरस्थायी नहीं होते हैं इस कारण ) वे पुरुष नाना प्रकार के स्वर्गसुखों को भोग कर, पुण्यक्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में जन्मधारण करते हैं। इस प्रकार वेदोक्त कर्मों को स्वर्गादि की कामना से करने वाले पुरुष बारंबार संसार में जन्म मरण को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

जो पुरुष किसी प्रकार की कामना न कर के अनन्य भाव से मेरा चिन्तवन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन एक मुझ ही में निष्ठा रखने वाले पुरुषों को मैं धन और अन्त में मोक्ष देता हूँ ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय ! जो श्रद्धापूर्वक भक्ति युक्त हो अन्य देवताओं की उपासना करते हैं वे भी अज्ञान पूर्वक ही मेरी उपासना करते हैं, क्योंकि उनको यह ज्ञान नहीं होता है कि इन्द्रादि देवताओं की उपासना भी परमात्मा ही की उपासना है, एक आत्मा ही सर्वपदार्थ रूप है ; उसके विना कोई वस्तु नहीं है, ऐसा ज्ञान न होने के कारण ही उन उपासकों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है ॥ २३ ॥

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और फल देने वाला हूँ, ऐसा ज्ञान न होने के कारण ही जीव बारंबार जन्म मरण को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

देवताओं के प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञादि करने वाले, देवताओं को ; पितरों को प्रसन्न करने के निमित्त श्राद्धादि करने वाले पितरों को ; भूतों के पूजने वाले लोग भूत आदि को और मेरी उपासना करने वाले मुझ परमानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

जो मेरे अर्थ भक्ति पूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि जो कुछ देता है मैं उस शुद्धचित्त पुरुष के भक्ति पूर्वक दिये हुए पत्र पुष्पादि को प्रसन्नता से ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥

हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ कार्य करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ हवन करो , जो कुछ दान करो और जो कुछ तप करो, वह मेरे अर्पण करो ॥ २७ ॥

ऐसा करने पर तुम शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से छूट जाओगे और मुक्त हो कर, संन्यास-योग से मुक्त होते हुए, मुझे प्राप्त हो जाओगे ॥ २८ ॥

मैं सब प्राणियों के विषय में समदृष्टि हूँ : मेरा कोई द्वेष का पात्र अथवा प्रिय नहीं है, परन्तु जो पुरुष भक्ति पूर्वक

पूर्वोक्त रीति से मेरी उपासना करते हैं, वे उस भक्ति के प्रभाव से मुझमें रहते हैं और मुझसे अभिन्न हो जाने के कारण मैं भी उनमें रहता हूँ ॥ २६ ॥

यदि कोई पुरुष अत्यन्त दुराचारी हो कर भी अनन्य चित्त से मेरा भजन करे, तो उसको साधु ही जानो, क्योंकि उसको सत्य निश्चय हो गया है ॥ ३० ॥

वह अत्यन्त दुराचारी पुरुष मेरा भजन करने से तुरन्त ही धर्मात्मा होता है और नित्य शान्ति को प्राप्त हो जाता है, हे अर्जुन ! इस बात को तुम निस्सन्देह जानो कि मेरा भक्त कदापि नष्ट नहीं होता है ॥ ३१ ॥

पापयोनि में उत्पन्न होने वाले जीव, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी विशेष रूप से सेवा कर के निस्सन्देह परमगति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पुण्यवान् ब्राह्मण और भक्त क्षत्रिय तो, मेरी भक्ति के प्रभाव से अवश्य ही परमगति को प्राप्त होंगे— इसमें सन्देह ही क्या है ? इस कारण तुम इस अनित्य और दुःखपूर्ण मनुष्य जन्म को प्राप्त हो कर मेरी आराधना करो ॥ ३२-३३ ॥

तुम मुझमें चित्त लगाने वाले मेरे भक्त और मेरी पूजा करने में तत्पर होओ और मुझे नमस्कार करो—इस प्रकार शरणागत हो कर, तुम अपने मन को मुझमें लगा कर, मुझे ही प्राप्त हो जाओगे ॥ ३४ ॥

---
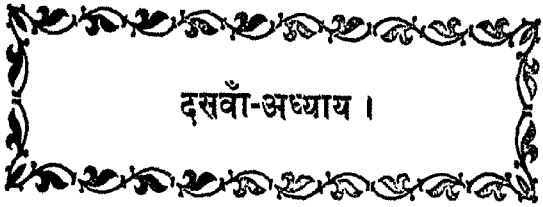
## भगवान् की विभूतियाँ ।

भगवान् फिर बोले :—

हे अर्जुन ! तुम फिर भी मेरे परमात्मनिष्ठ वचनों को सुनो। तुम्हारे ही हित की इच्छा से मैं प्रीतिपूर्वक कहता हूँ ॥ १ ॥

देवता और महर्षि भी मेरे प्रभाव को नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं देवता और महर्षि आदि सब का आदि कारण हूँ ॥ २ ॥

जो मुझे जन्म रहित अनादि और सर्वलोकों का स्वामी जानता है, वह भेद रहित हो कर, सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अमोह, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का दमन, चित्त का शमन, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, हिंसा, समदृष्टि, सन्तोष, तप, दान, यश, और अपयश, ये प्राणियों के सम्पूर्ण भिन्न भिन्न भाव मुझ ही से उत्पन्न हुए हैं ॥ ४-५ ॥

सृष्टि की आदि में भृगु आदि सप्तमहर्षि, सनकादि चार ऋषि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु, ये सब मेरे प्रभाव से

मुक्त और मुझ ही से उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने मेरी आज्ञा के अनुसार इस लोक में सम्पूर्ण प्रजा को रचा है ॥ ६ ॥

इस मेरी विभूति और योग को जो तत्व रूप से जानते हैं, वे निस्सन्देह चलायमान न होने वाले आत्मज्ञान को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सब का ज्ञान और बुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसा जान कर बुद्धिमान पुरुष प्रेम पूर्वक मेरी उपासना करते हैं ॥ ८ ॥

जो पुरुष, और प्राण मुझे समर्पण करना जानते हैं, वे परस्पर मेरी कथा और कीर्त्तन करने ही में परम सन्तोष और सुख मानते हैं ॥ ९ ॥

जो पुरुष एकाग्रचित्त हो प्रीति पूर्वक मुझे भजते हैं ; उनको मैं बुद्धियोग देता हूँ, उस बुद्धियोग के द्वारा वे अनायास ही मुझ परमात्मा को पा जाते हैं ॥ १० ॥

उन भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त मैं उनकी आत्माकार वृत्ति में स्थित हो कर. प्रकाशवान ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा उनके अज्ञानाचरण रूपी अज्ञान का नाश कर देता हूँ ॥ ११ ॥

अर्जुन कहने लगेः —

हे भगवन्! तुम परब्रह्म और परमधाम तथा तुम्हीं परम पवित्र हो तुम ही नित्य पुरुष. तुम्हीं आदिदेव, अज, विभु हो, भृगु आदि ऋषि, देवर्षि, नारद, असित. देवल और व्यास आदि आपका इस प्रकार वर्णन करते हैं और आप भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

हे केशव ! आप जो कुछ मुझसे कहते हो, सो सब मैं सत्य मानता हूँ, हे भगवन् देवता और दानव कोई भी आपके स्वभाव को नहीं जानता है ॥ १४ ॥

हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवादिदेव ! हे जगत्पते ! आप किसी अन्य के उपदेश के विना ही स्वयं अपने (परमात्म रूप) को जानते हो ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! आप जिस विभूति कर के सब लोकों में व्याप रहे हो, आप अपनी उस सम्पूर्ण दिव्य विभूति का वर्णन कीजिये ॥ १६ ॥

हे योगिन् ! मैं आपको किस किस पदार्थ में, किस प्रकार की विभूति के द्वारा, किस भाव से चिन्तवन करूँ, सो कहिये ? ॥ १७ ॥

हे जनार्दन ! आप फिर अपनी विभूति और योग का तत्व विस्तार पूर्वक मुझसे कहिये, क्योंकि आपके अमृत के समान वचनों को सुन कर, मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण जी बोले :—

हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियाँ इतनी अधिक हैं कि उनका पार नहीं है, तुमसे प्रधान प्रधान विभूतियाँ विस्तार पूर्वक कहे देता हूँ ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित, आनन्दमय चैतन्य रूप मैं हूँ, सब प्राणियों की उत्पत्ति पालन और प्रलय रूपी भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

आदित्यों में मैं विष्णु नामक आदित्य हूँ । प्रकाश करने वालों में अंशुमान् नामक रवि हूँ, मरुत नामक देवगण में मैं मरीच हूँ और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥

वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और सब भूतों में चैतन्य रूप हूँ ॥ २२ ॥

रुद्रों में शङ्कर हूँ, यक्ष राक्षसों में कुवेर हूँ, वसुनामक देवगण में अग्नि हूँ और पर्वतों में सुमेरु हूँ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! मुझे पुरोहितों में प्रधान ब्रह्मस्पति जानो, सेनापतियों में मैं स्कन्द और स्थिर जलाशयों में, मैं सागर हूँ ॥ २४ ॥

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, शब्दों में एकाक्षर ( ओं ) रुप हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों में हिमालय हूँ ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण वृक्षों में अश्वत्थ, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिलमुनि हूँ ॥ २६ ॥

अश्वों में मुझे अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुए उच्चैःश्रवा नामक अश्व, गजेन्द्रों में ऐरावत रूपी और मनुष्यों में राजा रूपी मुझे जानो २७ ॥

शास्त्रों में मैं वज्र रूप और गौओं में कामधेनु रूप हूँ, कामनाओं में मैं पुत्रोत्पन्न करने वाला काम रूप हूँ और सर्पों में मैं वासुकी रूप हूँ ॥ २८ ॥

नागों में अनन्त, ( शेष ) रूप और जलचारियों में मैं वरुण रूप हूँ, पितरों में मैं अर्यमा रूप और दण्ड देने वालों में मैं यम-रुप हूँ ॥ २९ ॥

दैत्यों में प्रह्लाद रूपी और गणना करने वालों में काल रूपी हूँ । पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ रूपी हूँ ॥ ३० ॥

वेगवालों में मैं पवन रूप और शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ । मत्स्यों में मकर रूप और नदियों में गङ्गा हूँ ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन! उत्पन्न होने वाले पदार्थों का उत्पत्ति, पालन और प्रलय रूप मैं ही हूँ, विद्याओं में मैं अध्यात्म विद्या और वाद करने वालों में मैं तर्क रूप हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षरों में अकार और समासों में मैं द्वन्द्व समास हूँ, मैं ही अक्षय काल रूपी और मैं ही कर्म का फल देने वाला अन्तर्यामी ईश्वर हूँ ॥ ३३ ॥

मैं संहार करने वालों में सब का हरने वाला मृत्यु हूँ, होने वाले कल्पों में प्राणियों का उत्पत्ति रूप हूँ। स्त्रियों में, मैं कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा रूप हूँ ॥ ३४ ॥

गान रूप सामों में मैं बृहत्साम हूँ, छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ, मासों में मैं मार्गशीर्ष ( अगहन ) हूँ और ऋतुओं में, मैं वसन्त ऋतु हूँ ॥ ३५ ॥

छल करने वालों में मैं द्यूत ( जुआ ) रूप हूँ, तेजस्वियों में मैं तेजोरूप हूँ, जय को प्राप्त करने वालों में मैं जय रूप हूँ, उद्योग करने वालों में,मैं उद्योग रूप हूँ, सात्विक पुरुषों में मैं सत्व रूप हूँ ॥ ३६ ॥

यादवों में मैं वासुदेव हूँ, पाण्डवों में मैं धनञ्जन हूँ, मुनियों में मैं व्यास हूँ और कवियों में शुक्र हूँ ॥ ३७ ॥

दण्ड देने वालों में मैं दण्डरूप हूँ जय की इच्छा करने वालों में मैं नीति हूँ गोप्य वस्तुओं में मौन हूँ और ज्ञानिओं में ज्ञान-रूपी मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

सब भूतों का मूल कारण चेतना रूप मैं ही हूँ, मेरे विना कोई स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

मेरी दिव्य विभूतियों की मर्य्यादा (हद) नहीं है, हे परन्तप! मैंने जो कुछ तुमसे कहा सो विस्तार का संक्षेप कर के कहा है ॥ ४० ॥

जो जो ऐश्वर्य्ययुक्त और बलयुक्त प्राणी हो, उस उसको तुम मेरी शक्ति के अँश से उत्पन्न हुआ जानो ॥ ४१ ॥

अथवा हे अर्जुन! और अधिक जानने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है. केवल इतना ही जान रखो कि इस सम्पूर्ण जगत् को मैं एकाँश से धारण कर के स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

# ग्यारहवाँ-अध्याय ।

## विराटरूप दर्शन ।

अर्जुन कहने लगेः—

हे भगवन् ! आपने अनुग्रह करके जो अध्यात्म-तत्व की परम गुप्त कथा कही उसको सुन कर मेरा मोह ( मैं मारूँगा, ये मारे जाँयगे ऐसा विचार ) दूर हो गया ॥ १ ॥

हे कमलपत्राक्ष ! आपने सर्वभूतों की उत्पत्ति और प्रलय को विस्तार से वर्णन किया-वह सब मैंने सुना और आपका सोपाधिक तथा निरुपाधिक माहात्म्य भी मैंने सुना ॥ २ ॥

हे परमेश्वर ! आपने अपने रूप का जैसा वर्णन किया सो ठीक ही है ; परन्तु हे पुरुषोत्तम आपके उस ईश्वरीय रूप के दर्शन की मेरी अत्यन्त ही अभिलाषा है ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! मुझे यदि अपने उस अद्भुत रूप का दर्शन करने के योग्य समझते हो, तो हे योगेश्वर ! मुझे अपने उस अविनाशी नित्य रूप को दिखाइये ॥ ४ ॥

यह सुन कर भगवान् कहने लगे कि हे अर्जुन ! नाना प्रकार के वर्ण और आकृति ( सूरत ) के सैकड़ों और सहस्रों अवयवों वाले मेरे रूप को देखो ॥ ५ ॥

हे भारत! यह देखो मेरी देह के भीतर आदित्य मण्डल, वसुनामक देवगण, एका-दश-रुद्र, दोनों अश्विनी कुमार और मरुत् नामक देवगण तथा और बहुत से जो तुमने कभी पहले न देखे होंगे ऐसे आश्चर्य रूपों को देखो ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! इस मेरे शरीर के छोटे से भाग में स्थित स्थावर जङ्गम रूप सम्पूर्ण जगत को तथा और जो कुछ तुम्हें देखना हो सो देख लो ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! तुम इन साधारण नेत्रों से मेरे इस रूप को नहीं देख सकोगे। इस कारण मैं तुम्हें दिव्य-नेत्र देता हूँ, तुम इन नेत्रों से मेरे विश्वरूप का दर्शन करो ॥ ८ ॥

यह कह कर श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को अपना दिव्य विश्वरूप दिखलाया जिसमें अनेकों मुख और अनेकों नेत्र थे। उसमें अनेक अद्भुत वस्तुएं विद्यमान थीं, जिसमें अनेकों दिव्यभूषण और अनेक दिव्यशस्त्र विद्यमान थे, वह रूप दिव्य माला और दिव्य वस्त्रों से सुशोभित था। दिव्य सुगन्धित पदार्थों से लिप्त था, अति आश्चर्यमय, प्रकाश से पूर्ण अनन्त तथा सब ओर मुख वाले रूप का दर्शन भगवान् ने अर्जुन को कराया। उसे देख आश्चर्य और हर्षयुक्त तथा पुलकित शरीर हो कर, अर्जुन ने मस्तक झुका कर नारायण को प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर यह बिनती की ॥ ९—१४ ॥

अर्जुन ने कहाः—

हे देव! आपके इस विश्वरूप शरीर में, मैं देवताओं को देख रहा हूँ, स्थावर जङ्गम सम्पूर्ण भूतों को देख रहा हूँ: कमलासन पर विराजमान सब के नियन्ता चतुर्मुख ब्रह्मा जी को देख रहा हूँ, और दिव्य ऋषियों को तथा सर्पों को देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर आपके बहुत सी भुजा, उदर, मुख और नेत्रों वाले अनन्त रूप को देख रहा हूँ, परन्तु फिर भी आपके अन्त मध्य और आदि को कौन देख सकता है ॥ १६ ॥

हे भगवन्! किरीट गदा, चक्र को धारण करने वाला तेजःस्वरूप चारों ओर से प्रकाशवान्, देदीप्यमान अग्नि और सूर्य की समान कठिन से देखने योग्य कान्तिमान और अप्रमेय आपके स्वरूप को मैं देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

तुम अक्षर ब्रह्म हो, तुम्हीं मुमुक्षु पुरुष होकर, जानने योग्य हो, तुम इस जगत् के परम आश्रय हो, तुम नित्य हो, तुम ही सनातन धर्म के रक्षक और तुम्हीं सनातन परमात्मा पुरुष हो-इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १८ ॥

हे भगवन्! मैं देख रहा हूँ आप उत्पत्ति स्थिति और नाश कर के रहित अनन्त प्रभावशाली और अनन्त भुजाओं वाले हो, चन्द्र सूर्य आपके नेत्र हैं आपके मुखमण्डल में देदीप्यमान अग्नि सी प्रज्वलित हो रही है और तुम अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को सन्तप्त कर रहे हो ॥ १६ ॥

हे महात्मन्! एक आप ही से यह पृथिवी और आकाश का मध्य भाग तथा दिशाओं का मण्डल व्याप्त हो रहा है; आपके इस अद्भुत और घोर रूप को देख कर त्रिलोकी भयभीत हो रही है ॥ २० ॥

हे भगवन्! यह सब देवता अन्तःकरण में भयभीत होकर आपकी शरण ले रहे हैं, कोई कोई भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए प्रार्थना कर रहे हैं, और महर्षि तथा सिद्धों के

समूह, स्वस्ति, कह कर सुन्दर सुन्दर बहुत से श्लोकों से आपकी स्तुति कर रहे हैं॥ २१॥

हे भगवन्! रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्ध आदि सब ही आपका दर्शन कर के आश्चर्य में हो रहे हैं॥ २२॥

हे महाबाहो! आपके बहुत से मुख और नेत्रों वाले, बहुत सी दाढ़ों करके विकराल रूप महान् विश्वरूप का दर्शन कर के सम्पूर्ण जीव भयभीत हो रहे हैं और मुझे भी भय हो रहा है॥ २३॥

हे विष्णो! आपके आकाश व्यापी, महातेजस्वी, नाना-वर्णों वाले मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्र वाली मूर्त्ति का दर्शन करके मेरा धैर्य्य और शान्ति दोनों नष्ट हुए जाते हैं, अर्थात् मेरा चित्त स्थिर नहीं है॥ २४॥

बड़ी बड़ी दाढ़ों और प्रलय काल की अग्नि के समान आपके मुख का दर्शन कर के मुझे चक्कर सा आया जाता है, मुझे सुख नहीं मिलता है, हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये॥ २५॥

हे भगवन्! यह दुर्योधनादि धृतराष्ट्र के पुत्र अपने साथी राजाओं के साथ, और भीष्म द्रोण कर्ण-इन तीनों वीरों के साथ, और हमारे मुख्य योद्धा बड़े वेग से आपके मुख में घुस रहे हैं। उनमें से किसी किसी का सिर तो कुचल गया है और दाँतों की सन्धि में अटका हुआ है॥ २६-२७॥

जिस प्रकार बड़े वेग से जाती हुई नदियों का जल समुद्र की ओर जाकर समुद्र में प्रवेश कर जाता है; उसी प्रकार मनुष्य-लोक में यह जीव सब ओर से प्रकाशमान् आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं॥ २८॥

हे भगवन्! जिस प्रकार पतङ्ग बड़े वेग से दौड़ कर अपने मरण के लिये जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण लोक अपने अपने मरण ही के लिये बड़े वेग से आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं॥ २९॥

हे विष्णो! आप भी मानों समस्त लोकों को ग्रास करने की अभिलाषा से प्रकाशमान् मुख को फैला कर, तेज के द्वारा सब जगत को व्याप्त कर के, वीरों को भक्षण कर रहे हो॥ ३०॥

ऐसी उग्र मूर्त्ति धारण करने वाले आप कौन हैं, सो मुझे बतादीजिये। हे देवश्रेष्ठ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप प्रसन्न हूजिये, सर्वकारण स्वरूप आपको जानने की मेरी अत्यन्त ही इच्छा है। क्योंकि आपकी, चेष्टा और चरित्र मेरे जानने में नहीं आते हैं॥ ३१॥

यह सुन कर भगवान् बोले:—

मैं त्रिलोकी का क्षय करने वाला साक्षात् काल स्वरूप हूँ, मैं दुर्योधनादि प्राणियों का सँहार करने के लिये उद्यत हुआ हूँ, तुम युद्ध न करोगे तो तुम्हारे शत्रुदल में जो योद्धा खड़े हैं उनमें से कोई भी जीवित न रहेगा॥ ३२॥

इस कारण तुम युद्ध करने के लिये खड़े हो जाओ, विजय और यश को पाओ, शत्रुओं को जीत कर, निष्कण्टक राज्य को भोगो, हे अर्जुन! देख लो तुम्हारे युद्ध करने से पहिले ही

मैंने तुम्हारे शत्रुओं का सँहार कर रखा है, तुम केवल निमित्त-मात्र बन जाओ ॥ ३३ ॥

द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण, तथा और वीरों का भी वास्तव में तो मैंने ही वध कर दिया है, तुम बाहरी दृष्टि से इनका वध करो, भय न मानो, रण में शत्रुओं को अवश्य जीतोगे, इस कारण युद्ध करो ॥ ३४ ॥

किरीटी अर्जुन, भगवान् के इस कथन को सुन कर, हाथ जोड़े, काँपते हुए प्रणाम कर के, फिर भी भगवान् से गद्गद वचन कहने लगे ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोलेः—

हे हृशीकेश ! आपके माहात्म्य का कीर्त्तन कर के सम्पूर्ण जगत् परम हर्ष और प्रसन्नता को प्राप्त होता है, सिद्ध महात्मा पुरुष आपको नमस्कार करते हैं, राक्षस भयभीत हो कर. दिशाओं को भागते हैं. सो उचित ही है ॥ ३६ ॥

हे महात्मन् ! हे देवेश ! हे अनन्त ! हे जगन्निवास ! आप ब्रह्मा जी के गुरु ( बड़े ) हैं आपको देवगण क्यों न नमस्कार करें। आप सत्त ( जगत् के कारण रूप ) और आप ही असत् ( जगत् रूप ) हो, और आप ही इन दोनों से परे, अक्षय ब्रह्म-रूप हो ॥ ३७ ॥

हे अनन्तरूप ! आप ही आदि देव हैं, आप ही पुराण पुरुष हैं, आप ही इस संसार के लयस्थान हैं, आप सर्वज्ञ हैं, आप ही जानने योग्य वस्तु हैं, आप ही परम धाम और आप ही विश्व में सर्वत्र व्याप्त हैं ॥ ३८ ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपिता-मह रूप सब देवता भी आप ही हैं, इस कारण आपको

सहस्त्रों नमस्कार हैं और फिर भी आपको वारम्वार नमस्कार है॥ ३६॥

हे सर्वरूप! मैं आपके सन्मुख आपके पीछे और आपके चारों ओर आपको नमस्कार करता हूँ, हे अनन्तवीर्य आप परम पराक्रमी हैं और आप जगत में सर्वत्र विद्यमान हैं, इस कारण आपका 'सर्व'' नाम हुआ है॥ ४०॥

हे भगवन्! आपके इस विश्वरूप और ऐश्वर्य की महिमा को न जान कर और प्रमाद से, सखा मान कर, हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इस प्रकार की लौकिक बुद्धि से जो कुछ हठ पूर्वक मैंने कहा है, हे अच्युत! आपके विहार, शयन, बैठने और भोजन करने के समय अथवा एकाकी बैठे होने पर तथा अपने बान्धवों के मध्य में बैठे होने के समय, मैंने हास्य के मिस से भी आपकी जो कुछ अवज्ञा की है, उसको क्षमा करने की मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ॥ ४१-४२॥

हे अनुपम! प्रभावशालिन्, इस सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकी के पिता पूजनीय गुरु और गुरु के भी गुरु आप ही हैं, त्रिलोक भर में आपके समान कोई नहीं है, न आपसे श्रेष्ठ कोई हो सकता है॥ ४३॥

इस कारण आपको सब के वन्दना करने योग्य ईश्वर जान कर, दण्डवत प्रणाम करता हुआ, आपको प्रसन्न करता हूँ। जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता, मित्र के अपराध को मित्र और स्त्री के अपराध को पति क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिये॥ ४४॥

हे देव! आपके इस पहले कभी न देखे हुए रूप को देख कर, यद्यपि मैं प्रसन्न हुआ हूँ, परन्तु भय के कारण मेरा मन व्याकुल

हो रहा है इस कारण हे जगन्निवास ! हे देवेश ! अब आप अपने पहले ही मनोहर रूप का दर्शन दीजिये। मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये ॥ ४५ ॥

मैंने जैसे आपको पहिले देखा था, वैसे ही किरीटधारी और गदा तथा चक्र को हाथ में लेने वाले आपके पहले रूप को देखने की मुझे इच्छा है. हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्त्ते ! इस समय आप उस चतुर्भुजी मूर्त्ति ही को धारण कीजिये ॥ ४६ ॥

यह सुन कर भगवान् बोले :—

हे अर्जुन ! तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो कर ही मैंने योगबल से यह तेजोमय सर्वोत्तम अपना आदि रूप तुम्हें दिखाया है। मेरे इस रूप को तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं देख सका है ॥ ४७ ॥

हे कुरुप्रवीर ! मनुष्य-लोक में वेदपाठ यज्ञानुष्ठान, अथवा यथेष्ट दान, धर्म कर्म और अति उग्र तपस्या करने से भी, तुम्हारे सिवाय दूसरा प्राणी मेरे इस रूप को देखने को समर्थ नहीं है ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! तुम मेरे इस घोर रूप का दर्शन कर के व्यथित मत हो, तुम निर्भय और प्रसन्न चित्त होकर मेरे उस पूर्व रूप ही का फिर अच्छी तरह से दर्शन करो ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कह कर फिर अपना पहला चतुर्भुजी रूप दिखलाया और उस सौम्य शरीर को धारण कर के भगवान् श्रीकृष्ण ने भयभीत अर्जुन को स्वस्थ किया ॥ ५० ॥

अर्जुन बोले :—

हे जनार्दन ! आपकी इस सौम्य मनुष्य मूर्त्ति का दर्शन कर के, मैं प्रसन्न चित्त और स्वस्थ हुआ हूँ ॥ ५ ॥

भगवान् ने अर्जुन से कहा :—

तुमने मेरे जिस रूप का दर्शन किया, इस रूप का दर्शन होना परम दुर्लभ है, देवता सदा ही इस रूप के दर्शन की इच्छा किया करते हैं ॥ ५२ ॥

हे अर्जुन ! तुमने मेरे जिस विश्वरूप का दर्शन किया, उसका वेदाध्ययन, तपस्या, दान, और अग्निहोत्रादि कर के भी कोई दर्शन नहीं कर सकता ॥ ५३ ॥

हे परन्तप ! जीव, केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरे इस रूप के तत्व को जान सकता है, तथा मेरे स्वरूप दर्शन करने और मुझमें प्रवेश करने को समर्थ होता है ॥ ५४ ॥

हे पाण्डव ! जो पुरुष मेरे निमित्त अनुष्ठान करता है, मेरा शरणागत और भक्त होता है, सब प्रकार की आसक्ति से रहित और सब प्राणियों में वैर भाव से रहित होता है, वह पुरुष ही मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

# बारहवाँ-अध्याय।

## उत्तम भक्त की पहचान।

अर्जुन बोले :—

हे कृष्ण! जो पुरुष, इस प्रकार निरन्तर भक्ति-युक्त हो कर, आपके साकार रूप की उपासना करते हैं और जो पुरुष आपके अक्षय निर्गुण स्वरूप का ध्यान करते हैं, उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? ॥ १ ॥

यह सुन कर भगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन! जो पुरुष एकाग्रचित्त और सात्विक श्रद्धायुक्त हो कर, मेरे सगुण स्वरूप की आराधना करते हैं, मेरे मत में वे ही लोग चतुर हैं ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण इन्द्रियों को रोक कर और सर्वत्र समदृष्टि रख कर तथा सब प्राणियों के हितकारी हो कर, वाणी से वर्णन करने में न आने वाले, रूपादि रहित, सर्वव्यापी. नित्य, कूटस्थल, अचल और नित्य स्वरूप अविनाशी ब्रह्म का निरन्तर चिन्तवन करते हैं, वे मुझ निर्गुण स्वरूप को प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ।

निर्गुण ब्रह्म में चित्त को लगाने वाले पुरुषों को अधिक क्लेश होता है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति देहाभिमानी को बड़े ही क्लेश से होती है ॥ ५ ॥

हे पार्थ! जो पुरुष मुझे सम्पूर्ण कर्म समर्पण कर के और मुझमें परायण हो कर, अनन्य भक्तियोग के द्वारा केवल मेरी ही चिन्ता ( ध्यान ) और ध्यान किया करते हैं, मेरे में चित्त लगाने वाले उन पुरुषों को मैं मृत्यु से भरे संसार समुद्र से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ ॥ ६-७ ॥

हे अर्जुन! तुम मन और बुद्धि को मुझ परमेश्वर में लगाओ, तो मरण होने पर मुझ शुद्ध ब्रह्म ही में अभेद भाव से स्थित होओगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! यदि सगुण ब्रह्म में चित्त को स्थिर नहीं रख सकते हो, तो अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त होने का यत्न करो ॥ ९ ॥

यदि अभ्यास योग की साधना भी नहीं कर सको तो भगवान् के अर्थ, कर्म करने में तत्पर हो, मुझ परमेश्वर के निमित्त कर्म करने पर तुम ब्रह्ममात्र को प्राप्त हो जाओगे ॥ १० ॥

यदि भगवान् के निमित्त कर्मानुष्ठान करने में भी असमर्थ होओ, तो मेरे अनन्य शरण रूप योग को धारण करने वाले और स्वाधीन चित्त हो कर, सब कर्मों के फल को त्याग दो ॥ ११ ॥

हे अर्जुन! अभ्यास योग से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान, और ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, इस त्याग के अनन्तर ही मुक्तिरूपी शान्ति मिल जाती है ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों में जिसका द्वेष भाव नहीं है ; किन्तु मित्रभाव और दयालुता है और जो ममता तथा अहङ्कार रहित है, और जो सुख दुःख में समान रहता है. और क्षमावान् है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसका चित्त सावधान और वस में है, जिसका निश्चय दृढ़ है और जिसने अपने मन एवं बुद्धि को मेरे समर्पण कर दिया है वह मेरी भक्ति करने वाला पुरुष ही मुझे प्रिय है ॥ १३-१४ ॥

जिससे प्राणी भय मान कर, व्याकुल नहीं होते हैं और अपने आप ही जो अन्य प्राणियों से भय मान कर, व्याकुल नहीं होता है और जिसने हर्ष, विषाद, भय. और उद्वेग ( चित्त का क्षोभ ) को त्याग दिया है वह ही मेरा प्रिय है ॥ १५ ॥

स्वयं प्राप्त हुए पदार्थ में भी इच्छा न करने वाला, भीतरी वाहिरी शौच रखने वाला, आलस्य रहित उदासीन, व्यथा-रहित और सब प्रकार की आसक्तियों को त्यागने वाला जो मेरा भक्त है, वह ही मुझे प्रिय है ॥ १६ ॥

जो प्रिय वस्तु को प्राप्त हो कर. प्रसन्न नहीं होता है और किसी से द्वेष नहीं करता है, जो प्रिय वस्तु के नष्ट होने पर शोक नहीं करता है, जो अप्राप्त वस्तु की आकाँक्षा नहीं करता है और पुण्य पाप त्याग देता है वह भक्तिमान् पुरुष ही मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

जो शत्रु और मित्र में एक सी दृष्टि रखता है, मान और अपमान में एक सा रहता है, शीत उष्ण और सुख दुःख में जिसकी समान बुद्धि रहती है, जिसकी किसी पदार्थ में भी आसक्ति नहीं है, निन्दा और स्तुति दोनों में जो एक समान रहता है, जो मौन रहता है, जो जिस किसी प्रकार के भी अन्न

वस्त्र के मिलने से सन्तुष्ट रहता है, जो नियम से एक ही स्थान पर रहता है और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह भक्तिमान् पुरुष ही मुझे प्रिय है ॥ १८-१९ ॥

जो पुरुष श्रद्धावान् और मेरे अनन्य शरणागत हो कर, इस कहे हुए धर्म रूपी अमृत का पान करते हैं—वे भक्तिमान् पुरुष मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं ॥ २० ॥

## क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विज्ञान ।

भगवान् बोले :—

हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र नामक कहाता है और इस क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ नाम से प्रसिद्ध है । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनों को जो जानते हैं, उनका ही ऐसा कथन है ॥ १ ॥

हे अर्जुन ! तुम अद्वितीय ब्रह्म रूप मुझको सर्वक्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ रूप जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनों को जो प्रथक जानता है, मैं उसीको मोक्ष का हेतु होने के कारण ठीक ज्ञानी मानता हूँ ॥ २ ॥

वह शरीर रूपी क्षेत्र जैसी प्रकृति वाला है, जैसे इच्छादि धर्म वाला है, जैसे इन्द्रियादि विकारों करके युक्त है, उस क्षेत्र रूपी कारण से जिस प्रकार कार्य उत्पन्न होता है और क्षेत्रज्ञ का जैसा स्वभाव और प्रभाव है, इस सब को मैं संक्षेप से कहता हूँ तुम सुनो ॥ ३ ॥

इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को वशिष्ठादि ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है । ऋगादि वेदों में भी इस

विषय पर भिन्न भिन्न रीति से व्याख्या की गयी है। युक्तियों के द्वारा विचार करने वाले पुरुष, पदार्थों का निश्चय करने वाले पुरुष और सम्पूर्ण उपनिषद् इस विषय का अनेकों प्रकार से वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, मूलप्रकृति, श्रोत्रादि दश इन्द्रियाँ ; मन श्रोत्रादि के गन्धादि पाँच विषय ; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, ज्ञान रूपी मन की वृत्ति और धृति संक्षेप से इतने पदार्थ विकार युक्त हैं, और इन्हींको क्षेत्र कहा है ॥ ५-६ ॥

अपने गुणों की प्रशंसा न करना, दम्भ न करना, किसी को पीड़ा न पहुँचाना, सहनशील होना, सरल होना, भीतर बाहर शौच रखना, केवल सन्मार्ग ही में चलना और मन को वश में रखना, इसको ज्ञान कहा है ॥ ७ ॥

श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषयों के विषय में विरक्त रहना, अहङ्कार न करना, और जन्म, मरण, जरा, व्याधि तथा दोषों का वारम्वार विचार करना, इस ही को ज्ञान कहते हैं ॥ ८ ॥

पुत्र स्त्री गृहादि पदार्थों में आसक्ति न करना, पुत्रादि के सुख दुःख से अपने को सुखी और दुःखी न मानना, प्रिय अप्रिय और प्राप्ति में सदा समान चित्त रहना, इस ही को ज्ञान कहते हैं ॥ ९ ॥

मुझ परमात्मा में सर्वात्मदृष्टि से एकान्त भक्ति करना, निर्जन स्थान में रहना, विषयी पुरुषों के संसर्ग से सदा बचे रहना, यह ज्ञान कहाता है ॥ १० ॥

आध्यात्मिक ज्ञान में निष्ठा रखना, तत्वज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विचार करना यह ज्ञान कहाता है। यहाँ पर्यन्त जो

ज्ञान के लक्षण कहे, उनसे विपरीत ( उलटा ) अज्ञान कहलाता है ॥ ११ ॥

हे अर्जुन! इस समय मुमुक्षु पुरुषों के जानने योग्य वस्तु के विषय में मैं तुमसे कहता हूँ, जिसको जानकर जीव मोक्ष को पाता है, वह अनादि परब्रह्म न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है ॥ १२ ॥

सर्वत्र जिसके हाथ पैर हैं, सर्वत्र जिसके नेत्र मस्तक और मुख हैं, सर्वत्र जिसके कान हैं और जो सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों में व्याप्त होकर स्थित है :॥ १३॥

वह सब इन्द्रियों के गुणों में असमान है, वह सब प्रकार के सम्बन्ध से रहित होकर भी सब पदार्थों को धारण कर रहा है और वह सत्वादि गुणों करके रहित तथा उन गुणों का भोक्ता है॥ १४ ॥

वह सब वस्तुओं के बाहिर और भीतर है, स्थावर और जङ्गम में भी वही है, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म होने के कारण वह जानने में नहीं आता है, वह दूर से भी अति दूर है, और समीप से भी अति समीप है ॥ १५ ॥

वह सब प्राणियों से अभिन्न होकर भी भिन्न रूप से स्थित है. वह सब प्राणियों का उत्पन्न करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला है ॥ १६ ॥

वह सूर्य्यादि प्रकाशों का प्रकाश्य स्वरूप है. अज्ञान से परे है । वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है और वह सब के हृदय में बुद्धिरूप से स्थित है ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! मैंने इस प्रकार तुमसे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया, मेरा भक्त इन क्षेत्रादि तीनों पदार्थों को जान कर, ब्रह्मतत्व रूपी मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं, तुम सम्पूर्ण विकार और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जानो ॥ १९ ॥

प्रकृति ही शरीर और इन्द्रियों का मूल है और पुरुष सुख दुःख के भोग का कारण कहलाता है ॥ २० ॥

वह क्षेत्रज्ञ पुरुष ( जीव ) प्रकृति के कार्य शरीर में तदात्म्य रूप से स्थिर हो कर उस प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सुख दुःखादि को भोगता है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तदात्म्य सम्बन्ध होने के लिये ही सत् और असत् योनि में जन्म लेना होता है ॥ २१ ॥

इस देह में स्थित हो कर भी वह शरीरादि से भिन्न है। क्योंकि वह साक्षी, अनुग्रह, पालन करने वाला और ब्रह्मादिकों का स्वामी है तथा श्रुति में उसको परमात्मा कहा है ॥ २२ ॥

जो पुरुष इस प्रकार के स्वरूप वाले पुरुष को और विकारादि गुणों सहित प्रकृति को जानता है, वह विधि वाक्यों का उल्लङ्घन करने पर भी पुनर्जन्म को प्राप्त न हो कर, मुक्ति ही को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

कोई ध्यान कर के देह ही में मन से आत्मा का दर्शन करते हैं कोई साँख्य अर्थात् प्रकृति पुरुष की भिन्नता का विचार रूप योग के द्वारा तथा कोई कर्म योग के द्वारा उस परमात्मा का दर्शन करते हैं ॥ २४ ॥

हे अर्जुन! कोई कोई इन कहे हुए उपायों से मेरा दर्शन करने में असमर्थ हो कर, गुरु के पास उपदेश सुनते सुनते मृत्यु-मय संसार को तर जाते हैं ॥ २५ ॥

हे अर्जुन! जो कुछ स्थावर जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होते हैं. वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के योग से उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानो ॥ २६ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में समान रूप से स्थित और सर्व-भूतों का नाश होने पर भी नाश को प्राप्त न होने वाले परमात्मा का दर्शन करता है, वही तत्व का जानने वाला है ॥ २७ ॥

यदि विद्वान् पुरुष, सर्वभूतों में समान और समभाव में स्थिर ईश्वर रूप परमात्मा का दर्शन कर के आत्मा का हनन नहीं करता है, तो वह परमगति मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सम्पूर्ण कार्य्यों को प्रकृति ( माया ) ही करती है, आत्मा नहीं करता है। ऐसा जो देखते हैं, वे ही यथार्थ द्रष्टा हैं ॥ २९ ॥

जिस समय साधक पुरुष सम्पूर्ण भूतों को भिन्न भिन्न रूप से एक आत्मा में स्थित और एक आत्मा ही से सम्पूर्ण भूतों के विस्तार को प्राप्त हुआ देखता है, उस समय वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ॥ ३० ॥

हे अर्जुन! अनादि और निर्गुण होने के कारण वह परमात्मा निर्विकार है, वह शरीर में स्थित रह कर भी कुछ कर्म नहीं करता है और न कर्मफल में लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सब पदार्थों में स्थित हो कर, भी असङ्ग-स्वभाव-वाला होने के कारण किसी भी वस्तु के साथ लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा भी देह में रह कर, देह के दोष गुणों में लिप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार सूर्य्य इस सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र रूप शरीरों को प्रकाशित कर रहा है ॥ ३३ ॥

जो इस प्रकार ज्ञान रूप चक्षु से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को भिन्न रूप से जानते हैं और कारण रूप माया से सर्वभूतों के घटने के उपाय रूप ध्यानादि को जानते हैं, वे परमपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

# चौदहवाँ-अध्याय।

## सत्व, रज, तम का वर्णन।

भगवान् ने कहा :—

सम्पूर्ण मुनि, जिस ज्ञान को प्राप्त हो कर, इस देह-बन्धन से छूट कर, मोक्ष रूपी परम सिद्धि को प्राप्त हो गये; हे अर्जुन! अब मैं तुमसे उस सर्वोत्तम ज्ञान के साधन का विषय कहता हूँ ॥ १ ॥

साधक पुरुष, इस ज्ञान का साधन कर के मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं और वे सृष्टिकाल में जन्म तथा प्रलयकाल में मरण को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

हे अर्जुन! महद्-ब्रह्म मेरी योनि ( गर्भाधान-स्थान ) है और इसमें मैं गर्भ ( जगत् विस्तार के हेतु स्वरूप चिदाभास ) निक्षेप करता हूँ। उसमें ब्रह्मादि भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

हे अर्जुन! देवादि सम्पूर्ण योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं, माया ही उन सब की माता रूप है और गर्भाधान करने वाला मैं उनका पिता रूप हूँ ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! सत्व रज और तम—ये प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तीन गुण अविनाशी जीवात्मा को देह में बाँध रखते हैं ॥ ५ ॥

हे सब प्रकार के व्यसनों कर के रहित अर्जुन, इन तीनों गुणों में निर्मल होने के कारण ज्ञान का प्रकाशक और शान्त सत्व गुण, सुख और ज्ञान के साथ से जीव को बाँध रखता है ॥ ६ ॥

रजोगुण अनुराग रूप है उससे अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा और प्राप्त वस्तु में प्रीति उत्पन्न होती है। इसका कारण हे अर्जुन यह है कि रजोगुण जीव को धन जन स्वर्गादि के निमित्त किये जाने वाले कर्मों में आसक्ति से जीव को बाँध रखता है ॥ ७ ॥

हे अर्जुन। तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न होने वाला सम्पूर्ण शरीर-धारियों को भ्रान्ति में डालने वाला जानो, यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीव को बाँध रखता है ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! सत्वगुण जीव को सुख में आसक्त और रजोगुण कर्म में आसक्त तथा तमोगुण ज्ञान को ढक कर, प्रमाद-युक्त कर देता है ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! जिस समय रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्वगुण प्रबल होता है और जिस समय रजोगुण और सत्वगुण को दबा कर, तमोगुण प्रबल होता है तथा जिस समय तमोगुण और सत्वगुण को दबा कर रजोगुण प्रबल होता है, उस समय यह सत्वादिगुण अपने अपने कार्य को करते हैं ॥ १० ॥

जिस समय इस देह के श्रोत्रादि इन्द्रिय रूप सब द्वारों में ज्ञान रूप प्रकाश उत्पन्न हो; उस समय जाने कि सत्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

हे अर्जुन! रजोगुण की वृद्धि होने से लोभ में प्रवृत्ति, कर्म का आरम्भ, संकल्पों की परमपरा रूप अशान्ति और अन्न की वस्तु के लेने की इच्छा आदि लक्षण प्रकट होते हैं ॥ १२ ॥

हे कुरुनन्दन! तमोगुण की वृद्धि होने पर विवेक-हीनता, उद्योग-हीनता, प्रमाद और मोह आदि लक्षण प्रकट होते हैं ॥ १३ ॥

यदि देहाभिमानी जीव, सत्वगुण की वृद्धि होने के समय मृत्यु को प्राप्त हो, तो हिरण्यगर्भादि के उपासकों के प्रकाशमय लोकों को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यदि रजोगुण की वृद्धि होने के समय देहाभिमानी जीव की मृत्यु हो जाय, तो वह कर्म को अधिकारी मनुष्य-योनि को प्राप्त होता है और यदि तमोगुण की वृद्धि के समय मरण हो, तो पशु-आदि की योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है ॥ १५ ॥

सात्विक कर्म का फल निर्मल सुख, रजोगुण प्रधान कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान है, ऐसा प्राचीन महर्षि कहते हैं ॥ १६ ॥

सत्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद तथा मोह उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

सत्वगुणी पुरुष ऊर्द्ध्वलोक को जाते हैं, रजोगुणी पुरुष मनुष्य-लोक में रहते हैं और तमोगुणी पुरुष अधोलोकों को प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

जिस समय जीव विवेकी हो कर, सत्वादि गुणों से अन्य को कर्त्ता नहीं मानता है और आत्मा को सत्वादि गुणों से परे मानता है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

देह की उत्पत्ति के बीज रूप सत्वादि तीनों गुणों को अतिक्रमण कर के जीव, जन्म, मरण, जरा, तथा दुःखों से छूट कर परमानन्द रूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यह सुन कर अर्जुन कहने लगे :-

हे प्रभो ! जो इन तीनों गुणों को अतिक्रमण कर लेता है ; उसके कौन चिन्ह हैं ? अर्थात् किन किन लक्षणों को देख कर, निश्चय किया जाय कि यह जीव त्रिगुणातीत है और उसका आचार कैसा होता है तथा वह किस प्रकार इन तीनों गुणों को अतिक्रमण करता है ॥ २१ ॥

यह सुन कर भगवान् बोले :—

हे अर्जुन ! सत्वगुण के कार्य ज्ञान, रजोगुण के कार्य रूपी कर्मों में प्रवृत्ति और तमोगुण कार्य रूपी मोह का उदय होने पर, जो किसी समय द्वेष नहीं करता है और उनकी निवृत्ति के लिये इच्छा नहीं करता है, वही गुणातीत पुरुष है ॥ २२ ॥

जो उदासीन के समान स्थित रहता है, जिसको सत्वादि गुण चलायमान नहीं कर सकते हैं, सत्वादि गुण ही अपने कार्यों को कर रहे हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जान कर जो धीरता पूर्वक मौन रहता है, चलायमान नहीं होता है, वह गुणातीत कहलाता है ॥ २३ ॥

जिसको सुख दुःख दोनों एक समान हैं, जो आत्मस्वरूप में लवलीन है, जो मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण को एक समान जानता है, जो धैर्यवान् है, जो प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के पदार्थों में एक सी दृष्टि रखता है और जो अपनी प्रशंसा से प्रसन्न और निन्दा से खिन्न न हो कर, एक समान रहता है, वह पुरुष ही गुणातीत है ॥ २४ ॥

जो मान और अपमान को समान जानता है, जो मित्र और शत्रु दोनों में एक सी दृष्टि रखता है और जिसने सब प्रकार के कर्मों को त्याग दिया है, वही गुणातीत कहलाता है ॥ २५ ॥

जो अनन्य भक्ति से मेरी सेवा करता है वह मेरा भक्त ही तीनों गुणों को उल्लङ्घन कर के ब्रह्म भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है ॥ २६ ॥

जिस प्रकार राशिभूत प्रकाश ही सूर्य मण्डल है, उसी प्रकार मैं ही घनीभूत ब्रह्म की प्रतिमा हूँ. नित्यमुक्त होने के कारण मैं ही अव्यय मोक्ष की प्रतिमा हूँ । शुद्धसत्व रूप होने के कारण मैं ही मोक्ष की साधन रूपी सनातन धर्म की मूर्त्ति हूँ । परमानन्द स्वरूप होने के कारण मैं ही अखण्डित सुख की प्रतिमा हूँ । इस कारण मेरे सेवक निस्सन्देह मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

# पन्द्रहवाँ-अध्याय ।

## पुरुषोत्तम-योग ।

श्री भगवान् कहने लगे :–

इस संसार को पीपल का वृक्ष समझो । उस वृक्ष की जड़ ऊपर ( पुरुषोत्तम ) और शाखा नीचे ( हिरण्यगर्भादि ) है, यह अविनाशी है और कर्म-काण्ड रूपी वेद इसके पत्ते हैं । इस संसार रूपी वृक्ष को जो जानता है—वह ही वेदवेत्ता है ॥ १ ॥

इस संसार रूपी वृक्ष की शाखा नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, सत्वादि गुणों से यह वृक्ष बढ़ता है, शब्दादि विषय उस वृक्ष के नवीन पत्ते हैं, जिसकी वासना रूपी जड़ें नीचे और ऊपर फैली हुई हैं । यह वासना ही मनुष्य के शरीर में पुण्य पाप को उत्पन्न करती हैं ॥ २ ॥

इस संसार में वास करने वाले प्राणी, इस वृक्ष का रूप, आदि, मध्य, अन्त–नहीं जानते, तीव्र वैराग्य रूपी शास्त्र से इस दृढ़–मूल वाले संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को काट कर, इसके मूल रूपी उस वस्तु ( ब्रह्म ) को ढूढ़ना चाहिये—जिसको पा कर प्राणियों का पुनर्जन्म नहीं होता है; जिसके द्वारा इस संसार की

प्रवृत्ति का फैलाव हो रहा है. मैं उसी आदि पुरुष की शरणागत हूँ-ऐसा कह कर उसको ढूढ़ना चाहिये ॥ ३-४ ॥

जो अहङ्कार और भ्रान्ति रहित है, जो आसक्ति रहित और परमात्मा के विचार में तत्पर है, जिनको किसी कर्म का निषेध नहीं है, जो सुख दुःख, शीत. उष्ण आदिं द्वन्दों से रहित हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष अव्ययपद (ब्रह्म) को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

जिस पद के मिल जाने पर योगी पुरुष फिर नहीं लौटते हैं, उस पद को सूर्य्य. चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते हैं. वह स्वप्रकाश-पद ही मेरा सर्वोत्तम धाम है ॥ ६ ॥

इस संसार में सनातन जीव मेरा ही अंश है, यह जीव सुषुप्ति और प्रलय काल में प्रकृति में लीन हो कर स्थित हुई पाँच इन्द्रियों और छठवें मन को खींचता है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार वायु चलते समय पुष्पादि से गन्ध लेजाता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर से निकल कर. दूसरे शरीर में जाते समय पाँचों इन्द्रियों सहित मन को साथ लेजाता है ॥ ८ ॥

जीवात्मा कर्ण, नेत्र, नासिका. जिह्वा और त्वचा-इन सहित मन का आश्रय कर के शब्दादि विषयों को भोगता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हुए अथवा उस ही शरीर में स्थित अथवा विषयों को भोगते हुए अथवा इन्द्रियादि युक्त आत्मा को मूढ़ पुरुष नहीं देख सकते हैं : ज्ञानचक्षु महात्मा ही उस आत्मा का दर्शन करते हैं ॥ ९-१० ॥

योगी पुरुष. ध्यानादि द्वारा प्रयत्न कर के अपने अपने शरीर में स्थित आत्मा का दर्शन करते हैं, परन्तु मलिन चित्त अविवेकी

पुरुष, यत्न कर के भी उस आत्मा का दर्शन नहीं कर सकते हैं ॥ ११ ॥

सूर्य चन्द्रमा अग्नि का जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है उस तेज को मेरा ही स्वरूप जानो ॥ १२ ॥

मैं अपने प्रभाव से पृथिवी को दृढ़ कर के सम्पूर्ण प्राणियों को धारण कर रहा हूँ और सब प्रकार के रस युक्त, सोम रूप हो कर औषधियों को मैं ही पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

मैं जठराग्नि रूप से सब प्राणियों के शरीर में स्थित हो कर प्राण अपान वायु के द्वारा प्रज्वलित हो कर, चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेह्य—चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥ १४ ॥

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में जीवात्मा रूप से प्रवेश करता हूँ, तब मुझसे स्मृति और ज्ञान का उदय होता है और फिर मेरे द्वारा ही उस स्मृति और ज्ञान का नाश भी होता है। सब वेदों के द्वारा उस उस देवता रूप से, मैं ही जाना जाता हूँ, सब लोकों को वेदान्त सम्बन्धी उपदेश व ज्ञान देने वाला और वेद के ठीक ठीक अर्थ को जानने वाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

क्षर और अक्षर ये दो पुरुष इस लोक में प्रसिद्ध हैं : कार्य रूप सकल भूत क्षर और कारण रूप माया अक्षर कहलाती है ॥ १६ ॥

और परमोत्तम चैतन्यरूप पुरुष, क्षर और अक्षर उन दोनों से भिन्न हैं ; उसको 'परमात्मा' कहते हैं। वह त्रिलोकी में प्रवेश कर के सब का प्रतिपालन करता है। वह निर्विकार ईश्वर है ॥ १७ ॥

मैं क्षर से और अक्षर से परमोत्तम हूँ, इस कारण ही लोक और वेद में मेरा पुरुषोत्तम नाम प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! जो इस प्रकार मोह रहित चित्त वाला हो कर मुझे पुरुषोत्तम रूप जानता है; वह ही सर्वज्ञ है और वह ही भक्तियोग के द्वारा यथार्थ रूप से मेरी सेवा करता है ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! यह मैंने तुमसे सब शास्त्रों का गुप्त रहस्य कहा-इसको जान कर विवेकी पुरुष, आत्मज्ञानी और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

## दैवी और आसुरी सम्पत्ति ।

भगवान् बोले :—

श्री अभय, चित्त की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, दीनता, त्याग, शान्ति, परोक्ष में पराई निन्दा न करना, सब प्राणियों पर दया करना ; कोमलता, लज्जा, चपल न होना, तेज, क्षमा, धैर्य्य, शौच, अद्रोह, अभिमान न करना ये छब्बीस लक्षण दैवी अथवा सत्वगुणमयी प्रकृति वाले पुरुषों में पाये जाते हैं ॥ १-२-३ ॥

हे अर्जुन ! जिनका जन्म पूर्व फलों के अशुभ कृत्यों से होता है—वे रजोगुणी होते हैं, और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कर्कशपन, और अज्ञानता आदि ऐसे पुरुषों की पहचान है ॥ ४ ॥

दैवी सम्पत्ति मोक्ष देने वाली है और आसुरी सम्पत्ति में पड़ कर पुरुष संसार के बन्धनों में पड़ जाता है । हे पाण्डव ! तुमने दैवी सम्पत्ति के साथ जन्मधारण किया है-इस कारण तुम शोक मत करो ॥ ५ ॥

इस जगत में दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि-ये दो प्रकार की भूतों की सृष्टि होती है। हे अर्जुन! दैवी सृष्टि के विषय में, मैं विस्तार पूर्वक कह चुका हूँ और अब आसुरी सृष्टि का जो वर्णन किया जाता है उसे सुनो ॥ ६ ॥

जो आसुरी प्रकृति के पुरुष होते हैं, उनको धर्माधर्म का ज्ञान नहीं होता है। इस कारण उनमें शौच नहीं होता है। आचार नहीं होता है ॥ ७ ॥

इस आसुरी प्रकृति के मनुष्य इस जगत् को असत्य स्वाभाविक और ईश्वर के विना ही स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला और स्त्री पुरुषों की कामना ही है कारण जिसका, ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

ऐसी दृष्टि रखने वाले, मलिन चित्त, और घोर कर्म करने वाले, अल्प बुद्धि पुरुष. सँसार के नाश के लिये शत्रु रूपी उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

कठिनाई से पूरी होने वाली कामनाओं से भरे हुए हृदय वाले, दम्भमान, और मद-युक्त तथा दुराग्रही होकर अज्ञान के कारण अशुभ सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए, वेदविरुद्ध कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

जो मरण पर्य्यन्त नाना प्रकार की चिन्ताओं में मग्न होकर और शब्दादि विषय भोग के सुख को निश्चय रूप से परम पुरुषार्थ जानते हैं. वा आशा रूपी पाश में बन्धे हुए और काम क्रोधादि में लवलीन हो कर विषय भोग के लिये अन्याय से धन छीनने की प्रायः चेष्टा करते हैं ॥ ११-१२॥

आज यह धन मिला. यह मनोरथ मेरा शीघ्र सिद्ध होगा, यह धन मेरे घर में इकट्ठा है, यह आगे के वर्ष में और भी अधिक बढ़ जायगा, मैंने इस शत्रु को मार डाला, दूसरे शत्रु का नाश करूँगा, मैं ही सुखी हूँ, मैं ही धनाढ्य और कुलीन हूँ; मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, मैं आनन्द पाऊँगा. इस प्रकार के अज्ञान से मोहित, नाना प्रकार के दूषित सँकल्पों से अत्यन्त विक्षिप्त से हुए, मोह जाल में फँसे हुए, विषय भोग में अति आसक्त, आसुरी प्रकृति वाले पुरुष, अशुद्ध नरक कुण्ड में गिरते हैं॥ १३-१४-१५-१६॥

अपनी प्रशँसा करने वाले नम्रता रहित धन मान मद-युक्त आसुरी प्रकृति के पुरुष, विना विधि ही के नाममात्र यज्ञों को कर के दम्भ फैलाते हैं॥ १७॥

अहङ्कार. बल, घमण्ड, काम और क्रोधादि के वश में होकर, पर गुणों में दोष लगाने वाले, आसुरी प्रकृति के मनुष्य, अपने तथा औरों के शरीर में स्थित आत्मरूप मुझसे जो द्वेष करते हैं॥ १८॥

वे क्रूर. नित्य अशुभ कर्म करने वाले, मनुष्यों में नीच, आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों को मैं जन्म मृत्यु के मार्गों में डाल कर, निरन्तर अति क्रूर व्याघ्र, सर्पादि की योनियों ही में डाल देता हूँ॥ १९॥

मूढ़ पुरुष, जन्म जन्म में आसुरी योनि को पाकर अज्ञान के कारण. मुझे प्राप्त न होकर और भी अधोगति में गिरते हैं॥ २०॥

जीव की अधोगति के कारण रूप काम, क्रोध और लोभ-ये तीन नरक के द्वार रूप हैं । इनसे अवश्य दूर रहना चाहिये ॥ २१ ॥

हे अर्जुन! नरक के द्वार रूप काम, क्रोध, लोभ, इन तीनों का त्याग करने पर मनुष्य, अपने कल्याण का साधन करता हुआ, परम गति को पाता है ॥ २२ ॥

जो पुरुष, शास्त्रीय विधि को त्याग कर अपनी इच्छानुसार काम करता है, उसे तत्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। उसको इस लोक में सुख और मोक्ष रूप परम गति नहीं मिलती है ॥ २३ ॥

कार्य और अकार्य की व्यवस्था के विषय शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण हैं। इस कारण शास्त्र के अनुसार अपने अधिकार के अनुकूल शास्त्र की व्यवस्था को जान कर, करने योग्य कर्म में प्रवृत्त हो जाओ ॥ २४ ॥
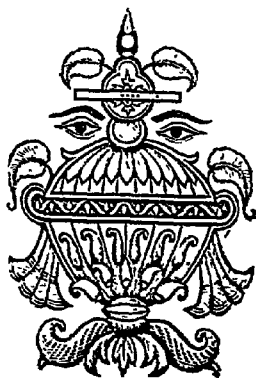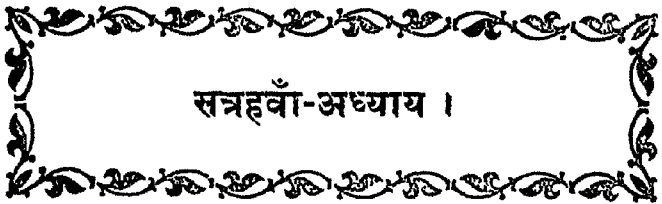
# सत्रहवाँ-अध्याय।

## गुणत्रय-भेद वर्णन।

अर्जुन बोले :—

हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र की विधि को छोड़ कर, श्रद्धा पूर्वक यज्ञादि करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है—अर्थात् सात्विकी राजसी या तामसी कौन सी है? ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा:—

देहाभिमानी पुरुषों की पूर्व सँस्कार के अनुसार, सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार के भेदानुसार तीन प्रकार की श्रद्धा होती हैं-उनका वर्णन सुनो ॥ २ ॥

हे अर्जुन! प्राणी मात्र की श्रद्धा अपने अपने अन्तःकरण की वृत्ति के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इस कारण जिस पुरुष की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही श्रद्धायुक्त होता है ॥ ३ ॥

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे सात्विक, जो यक्ष राक्षसों की पूजा करते हैं-वे राक्षस और जो भूतादि की पूजा करते है वे तामस श्रद्धा वाले कहलाते हैं ॥ ४ ॥

जो शास्त्र की विधि को त्याग कर, घोर तपस्या करते हैं और दम्भ, अहङ्कार, काम, राग तथा बल युक्त होते हैं, वे शरीरस्थित भूतों को और अन्तर्यामी रूप से शरीर में स्थित मुझको भी खींचते हैं। उन विवेकहीन पुरुषों को निस्सन्देह आसुर जानो ॥ ५-६ ॥

सब प्राणियों को तीन प्रकार का आदर प्रिय लगता है। उनके यज्ञ, तप, दान भी तीन ही प्रकार के होते हैं, उनके इस भेद को मैं कहता हूँ, सुनो! आयु, उत्साह, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले रसीले चिकने दीर्घ काल तक रहने वाले और हृदय को प्रिय लगने वाले आहार सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ ७-८ ॥

अति तीखे, खारे, निमकीन, अति गरम, तेज, रूखे और दाहकारी तथा दुःख शोक, रोगादि को उत्पन्न करने वाले आहार रजोगुणी पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

पहर भर के ठण्डे हुए, रसहीन, दुर्गन्धि-युक्त, बासी, जूठे, और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

फल की इच्छा को त्याग कर और अवश्य कर्त्तव्य जान कर, एकाग्रमन से, शास्त्रीय विधि के अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक होता है ॥ ११ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! स्वर्गादिफल की इच्छा से और अपना महत्व प्रसिद्ध होने के लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसको राजस जानो ॥ १२ ॥

जो यज्ञ शास्त्र की विधि और अन्न के दान से हीन होता है, जिस यज्ञ में शास्त्रोक्त मंत्र नहीं होते हैं, दक्षिणा नहीं दी जाती है और श्रद्धा नहीं होती है, उसको तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

देवता, ब्राह्मण और तत्वज्ञानी का पूजन, शौच, सरलता. ब्रह्मचर्य और अहिंसा–यह शारीरिक तप कहलाता है ॥ १४ ॥

दूसरे के मन को दुःख न देने वाला सम्भाषण, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य तथा वेदाभ्यासः वाचिक तप कहलाता है ॥ १५ ॥

चित्त की प्रसन्नता सौम्यता, मौन रहना, मन को वश करना और अन्तःकरण की शुद्धि—ये मानसिक तप कहलाता है ॥ १६ ॥

फल की इच्छा रहित एकाग्र-चित्त पुरुष परम श्रद्धा के साथ पूर्वोक्त तीन प्रकार की तपस्याओं में से जिसका अनुष्ठान करे—वह सात्विक तपस्या कहलाती है ॥ १७ ॥

जो तपस्या अपना सत्कार, मान और पुजवाने के अभिप्राय से पाषण्ड सहित की जाती है–वह राजस कहलाती है, राजसी तपस्या केवल इस लोक ही में फल देने वाली, अनित्य और क्षणिक होती है ॥ १८ ॥

अज्ञान से अपने शरीरादि को पीड़ा दे कर, अन्य प्राणी का नाश करने के निमित्त जो तपस्या की जाती है—वह तामसिक कहलाती है ॥ १९ ॥

दान अवश्य करना चाहिये, ऐसे विश्वास से देश, काल और पात्र की उत्तमता का विचार कर के, प्रत्युपकार की आशा

न कर के जो दान दिया जाता है वह सात्विक दान कहलाता है ॥ २० ॥

जो दान प्रत्युपकार की आशा से अथवा स्वर्गादि फल की इच्छा से किया जाता है और जो दान क्लेश सह कर किया जाता है. उसको राजसिक दान कहते हैं ॥ २१ ॥

जो दान अयोग्य, देश, काल और पात्र में दिया जाता है. जो दान सत्कार-रहित होता है और जो दान तिरस्कार के साथ दिया जाता है, उसको तामसिक दान कहते हैं ॥ २२ ॥

"ओं तत्सत्" ब्रह्म के इन तीनों अवयव वाले नाम का स्मरण कर के इस सृष्टि की आदि में प्रजापति ने ब्राह्मण. वेद और यज्ञों को रचा ॥ २३ ॥

इस कारण ओंकार का उच्चारण कर के ब्रह्मवादी पुरुष शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तपस्या आदि क्रिया में प्रवृत्त होते हैं ॥ २४ ॥

मुमुक्षु पुरुष "तत्" शब्द का उच्चारण कर, फल की इच्छा रहित चित्त से नाना प्रकार के यज्ञ तप दानादि करते हैं : ॥ २५ ॥

हे पार्थ सद्भाव अर्थात् जिसके पुत्र नहीं है, उसके पुत्र का जन्म होने के विषय में ; जिसके धनादि नहीं है, उसके धनादि होने के विषय में और साधुभाव अर्थात् कुचाल से सुचाल करने के निमित्त, तथा विवाहादि मङ्गल कार्यों ही में "सत्" शब्द का उच्चारण करते हैं ॥ २६ ॥

महात्मा पुरुष यज्ञ तप और दान रूप कार्यों के समय, तथा भगवान् की प्रसन्नता के निमित्त अनुष्ठान करते समय, " सत् " शब्द का उच्चारण करते हैं ॥ २७ ॥

हे अर्जुन! विना श्रद्धा के जो यज्ञ, दान और तप अथवा अन्य कोई कर्म किया जाता है, वह सब असत् कहाता है, श्रद्धा के विना किया हुआ कार्य इस लोक में अथवा परलोक में भी फल नहीं देता (इस कारण सारे सत्कर्म श्रद्धायुक्त करे) ॥ २८ ॥

# अठारहवाँ-अध्याय ।

## अर्जुन को ईश्वरीय ज्ञान और प्रकाश की प्राप्ति ।

अर्जुन कहने लगे :—

हे महाबाहो ! संन्यास और त्याग का तत्व ( भेद ) जानने की मेरी इच्छा है, आप कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा :—

तत्वज्ञानी पुरुष काम्य कर्मों के त्याग को "संन्यास" और पण्डित पुरुष सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग ही को "त्याग" कहते हैं ॥ २ ॥

कोई कोई पण्डित ऐसा कहते हैं कि द्वेष के त्याग के समान कर्म को भी त्याग देना चाहिये और कोई कहते हैं कि यज्ञ दान और तपोरूप कर्म को कदापि न त्यागना चाहिये ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! उस कर्म त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुनो, हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार का है ॥ ४ ॥

यज्ञ, दान और तपोरूप कर्म को न त्यागे, किन्तु इसको करे। क्योंकि यज्ञ दान और तप ये मुमुक्षु पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं॥ ५॥

हे अर्जुन! पूर्वोक्त यज्ञ दानादि कर्म करने के समय कर्त्ता अपने अभिमान को और स्वर्गादि फल की कामना को त्याग कर करें, यह मेरा निश्चित श्रेष्ठ मत है॥ ६॥

नित्य कर्म का तो कदापि त्याग न करना चाहिये, यदि अज्ञता-वश त्याग दे तो उस पुरुष का त्याग तामस कहलाता है॥ ७॥

कर्मानुष्ठान को कष्ट साध्य मान कर कायिक क्लेश के भय से जो नित्य कर्म को त्याग देता है, उसका त्याग राजस् कहलाता है. राजस् त्याग से त्याग का फल नहीं मिलता है॥ ८॥

जो पुरुष "अवश्य करना चहिये" ऐसा जान कर नित्य कर्म को करता है और उस कर्म में आसक्ति तथा कर्म फल की इच्छा नहीं रखता है, उस पुरुष का त्याग सात्विक कहलाता है॥ ९॥

सात्विक त्याग वाला पुरुष सतोगुणी, तत्वज्ञान में निष्ठा रखने वाला मेधावी और सब प्रकार के संशयों कर के रहित होता है, उसका दुःखदायिक कार्य्यों में द्वेष और प्रीतिकारक कार्य्यों में अनुराग नहीं होता है॥ १०॥

देहाभिमानी पुरुष, किसी समय भी सम्पूर्ण कर्म्मों को एक साथ नहीं त्याग सकता, इस कारण जो कर्म का त्यागने वाला है वही त्यागी कहलाता है॥ ११॥

त्याग न करने वाले पुरुष, मरण के अनन्तर अनिष्ट (नरक प्राप्ति रूप) इष्ट (देवत्व प्राप्ति रूप) और मिश्र (मनुष्यत्व

की प्राप्ति )—इन तीन प्रकार के कर्मफलों को भोगते हैं और त्यागियों को इस फल की प्राप्ति न हो कर मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

हे महाबाहो ! सब कर्म्मों की सिद्धि के लिये तत्वज्ञान कराने वाले, वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार जो पाँच कारण वर्णन किये गये हैं, तुम उन्हें मेरे कहने के अनुसार जानो ॥ १३ ॥

अधिष्ठान, ( शरीर ) तथा कर्त्ता ( अहङ्कार ) नाना प्रकार के कारण ( नेत्रादि ), नाना प्रकार की भिन्न भिन्न चेष्टा ( प्राण अपानादि के व्यापार ) और पाँचवाँ दैव-यह कर्म के पञ्चकरण हैं ॥ १४ ॥

मनुष्य शरीर, वाणी और मन के द्वारा धर्म वा अधर्म रूप जो कुछ कार्य्य करता है, उसके ये उपरोक्त पाँच हेतु हैं ॥ १५ ॥

ऐसा होने पर जो मूढ़ पुरुष, असङ्ग. उदासीनात्मा को कर्त्ता रूप से देखता है. वह दुर्मति कदापि सम्यक् दर्शी नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

जो " मैं करता हूँ "-ऐसा अभिमान नहीं करता है, जिसकी बुद्धि कर्म्मों में आसक्त नहीं होती है. वह इन लोकों का हनन करके भी नहीं हनन करता है और ऐसा करने से उनके फल को नहीं भोगता है ॥ १७ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—ये कर्म के प्रवर्त्तक हैं और करण. कर्म और कर्त्ता ये तीन कर्म के आश्रय हैं ॥ १८ ॥

साँख्य शास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्त्ता इनको सत्वादि गुणों के भेद से तीन प्रकार का कहा है, उनको मैं कहता हूँ। सुनो ॥ १९ ॥

जिस ज्ञान के द्वारा भिन्न भिन्न सब भूतों में सर्वव्यापक एक अव्यय सत्ता मात्र भाव ( ब्रह्म) की प्राप्ति होती है, वह सात्विक ज्ञान है ॥ २० ॥

जिस ज्ञान के द्वारा देहादि सकल भूतों में भिन्न भिन्न पदार्थ का अनुभव होता है, उसको राजस् ज्ञान जानो जिस ज्ञान में किसी एक ही पदार्थ में आत्मा की पूर्ण रूप से विद्यमानता का अनुभव होता है, वह मुक्तिहीन अवास्तविक ज्ञान तामस ज्ञान कहलाता है ॥ २३ ॥

कामना रहित पुरुष आसक्ति शून्य और रोग क्रोधादि रहित हो कर जिस नित्यकर्म का अनुष्ठान करता है—वह सात्विक कर्म है ॥ २३ ॥

कामना और अहङ्कार युक्त पुरुष जिस कष्टसाध्य काम्य-कर्मों को करता है-वे काम्यकर्म राजस् कहाते हैं ॥ २४ ॥

पीछे होने वाला शुभ अशुभ धन का नाश, हिंसा, पौरुष आदि का विचार न कर के अज्ञान से जिस कर्म का आरम्भ किया जाता है, वह तामस कर्म है ॥ २५ ॥

फल की कामना न करने वाला, अहङ्कार न करने वाला और धैर्य्य और उत्साहवान् तथा कार्य की सिद्धि और असिद्धि में चित्त को एक समान रखने वाला—कर्त्ता सात्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

जो पुरुष विषयासक्त कर्मफल की इच्छा करने वाला, लोभी, हिंसा करने वाला, अपवित्र और कार्य की सिद्धि, असिद्धि में हर्ष शोक मनाने वाला है वह तामस कर्त्ता कहलाता है ॥ २७ ॥

और जो पुरुष असावधान अविवेकी, उद्धत, शठ, अन्य पुरुषों का अपमान करने वाला, आलसी, विषादयुक्त और दीर्घ-सूत्री है, उसको शास्त्र में तामस-कर्त्ता कहा है ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सत्वादि गुणों के भेद से बुद्धि और धृति के तीन तीन भेद हैं. मैं उनको पूर्ण रीति से अलग अलग कहता हूँ, तुम सुनो ॥ २९ ॥

हे पार्थ ! जिस बुद्धि से प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य अकार्य, भय और अभय, बन्धन और मुक्त जाने जाते हैं, उसको सात्विक-बुद्धि कहते हैं ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! जिस बुद्धि से धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य सन्दिग्ध रूप से जाना जाता है उसे राजसी बुद्धि कहते हैं ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! जो बुद्धि अहङ्कार युक्त हो कर धर्म को अधर्म तथा सब प्रकार के विषयों को उलटा जानती है वह तामसी बुद्धि है ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! जिस अन्य विषय को धारण न करने वाली धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया-शक्ति को रोका जाय वह सात्विक धृति है ॥ ३३ ॥

" मैं कर्त्ता हूँ "-इत्यादि अभिमान रखता हुआ कल्याण की इच्छा रख के मनुष्य, जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह राजसी धृति है ॥ ३४ ॥

दुर्बुद्धि पुरुष जिस धृति की सहायता से स्वप्न भय शोक, विषाद और मद का कभी भी त्याग नहीं करता है अर्थात् सदा इनमें आसक्त रहता है उसका नाम तामसी धृति है ॥ ३५ ॥

हे भरतर्षभ ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार का सुख सुनो। अभ्यास के कारण जिस सुख में आसक्ति बढ़ती है, जिस सुख के प्राप्त होने पर दुःख का नाश हो जाता है, जो सुख पहले विष, परिमाण में अमृत के समान जान पड़ता है, जिस सुख से आत्मविषयक बुद्धि में विशदता होती है, वह ही सात्विक सुख कहलाता है ॥ ३६-३७ ॥

विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है और जो सुख अमृत के समान और परिमाण में विष तुल्य प्रतीत होता है, वह राजस् सुख है ॥ ३८ ॥

और जो सुख प्रारम्भ और परिणाम दोनों में बुद्धि को मोह-युक्त करता है और निद्रा आलस्य से उत्पन्न होता है वह तामस सुख है ॥ ३९ ॥

पृथिवी में, स्वर्ग में, अथवा देवताओं में, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें प्रकृति से उत्पन्न हुए तीन गुण न हों ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्रकट हुए गुणों के अनुसार ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्म भिन्न भिन्न हुए हैं ॥ ४१ ॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, और आस्तिकता ये नौ ब्राह्मण के स्वाभाविक धर्म हैं ॥ ४२ ॥

सूरता, तेज, धृति, प्रवीणता, युद्ध से पीठ न फेरना, दान, स्वामित्व—ये कई एक क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

खेती करना, गौ पालना और व्यापार करना, वैश्यों के तथा द्विजों की सेवा करना, शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

मनुष्य, अपने अपने कर्म में निष्ठा रखने पर, जिस प्रकार की सिद्धि पाता है, सो सुनो ॥ ४५ ॥

जिस ईश्वर ने आकाशादि सकल भूतों को रचा है, जो ईश्वर विश्व में सर्वत्र विद्यमान है, मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा उसका अर्चन कर के सिद्धि पाता है ॥ ४६ ॥

अच्छी तरह किये हुए परधर्म से, अपना धर्म कुछ कम हो सके तो भी वह श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वाभाविक कर्म को करने से मनुष्य पाप का भागी नहीं होता है ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो तो भी उसको न त्यागे, क्योंकि धुएं से ढकी हुई अग्नि के समान साधारण रूप से सभी कर्म दोषयुक्त हैं ॥ ४८ ॥

जिसकी बुद्धि सर्वत्र आसक्त नहीं है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जो स्पृहा रहित है वह पुरुष संन्यास के द्वारा परम नैषकर्म्य सिद्धि को पाता है ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! ऐसा सिद्ध पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है, उसको और उसकी परमज्ञान निष्ठा के विषय को मैं संक्षेप से कहता हूँ, सुनो ॥ ५० ॥

परमशुद्ध बुद्धि वाला, धैर्य्यपूर्वक मन को निश्चल कर के शब्दादि विषय और रागद्वेष को त्यागने वाला, एकान्त स्थान में निवास करने वाला, वाणी, मन और शरीर को वश में रखने वाला, नित्य ध्यान योग में तत्पर रहने वाला, वैराग्यवान्, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्यागने वाला,

निर्मल और विक्षेप शून्य शान्त पुरुष ब्रह्म के साक्षात्कार का अधिकारी होता है ॥ ५१-५२-५३ ॥

ब्रह्म में स्थित प्रसन्नचित्त, शोक में न घबड़ाने वाला, स्पृहा शून्य और सब भूतों में समदृष्टि रखने वाला, पुरुष ही मेरी भक्ति को पाता है ॥ ५४ ॥

तदनन्तर उस भक्ति ही के भाव से मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप तत्व रूप से जाना जाता है और तदनन्तर वह भक्त पुरुष मुझ ही में प्रवेश करता है ॥ ५५ ॥

सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान कर के भी जो मेरी शरण में आता है, वह मेरे अनुग्रह से शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

हे अर्जुन! तुम बुद्धि से सब कर्मों को मुझे समर्पण कर के मेरे विषय ही में चित्त लगाओ और बुद्धियोग से चित्त भी मुझ ही में समर्पण करो ॥ ५७ ॥

हे अर्जुन! मुझे चित्त समर्पण करने पर मेरे अनुग्रह से दुस्तर साँसारिक दुःखादि से पार हो जाओगे और यदि अहङ्कार से मेरा कहना न मानोगे, तो तुम भ्रष्ट हो जाओगे ॥ ५८ ॥

यदि अहङ्कार के वशवर्त्ती हो कर "मैं किसी प्रकार भी युद्ध न करूँगा"—ऐसा निश्चय करते हो, तो यह तुम्हारा विचार मिथ्या होगा-क्योंकि प्रकृति तुम्हें युद्ध में अवश्य ही प्रवृत्त करेगी ॥ ५९ ॥

हे अर्जुन! मोहवश युद्ध करने में तुम प्रवृत्त नहीं होते हो; किन्तु अन्त में स्वाभाविक क्षत्रिय प्रकृति के वशवर्ती हो तुम्हें अवश्य युद्ध करना ही पड़ेगा ॥ ६० ॥

भगवान्! सब प्राणियों के हृदय में स्थित हो कर, मंत्र (कल) पर चढ़ी हुई, कठपुतलियों के समान, उन सब को भ्रमाते हैं ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन! तुम सब प्रकार से उन भगवान् के शरणागत हो जाओ, उनके अनुग्रह से तुम्हें पूर्ण शान्ति और नित्य पद मिल जायगा ॥ ६२ ॥

हे अर्जुन! मैंने तुमसे गुप्त आत्मज्ञान का विषय कहा—मेरी कही हुई इस गीता का आदि से अन्त तक विचार कर के जो इच्छा हो सो करो ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन! तुम मेरे परम प्रिय हो—इस कारण तुम्हारे हित के लिये फिर सब से गुप्त बात कहता हूँ, सुनो ॥ ६४ ॥

हे अर्जुन! तुम मेरे में चित्त लगाने वाले भक्त और मेरे निमित्त यज्ञ करने वाले होओ और मुझे नमस्कार करो तो मुझे ही प्राप्त होओगे—यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ-क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो ॥ ६५ ॥

तुम सकल धर्म्मों को त्याग कर केवल मेरी ही शरण में आओ। कुछ शोक मत करो—मैं तुम्हें सब पापों से छुटा दूँगा ॥ ६६ ॥

हे अर्जुन! तुम्हारे ही हित के लिये—यह गीता-शास्त्र मैंने कहा है यह तपस्या भक्ति और शुश्रूषाहीन तथा मेरे में असूया करने वाले पुरुष को कदापि उपदेश न करना ॥ ६७ ॥

जो पुरुष मुझमें परम-भक्त युक्त हो कर, मेरे भक्तों को इस परमगुप्त शास्त्र का उपदेश करेगा—वह अवश्य ही मुझको प्राप्त होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

मनुष्यों को गीता-शास्त्र का उपदेश देने वाले के समान मुझे अति प्रिय न कोई है और न कोई होगा और पृथिवी में उसको भी मेरे सिवाय और कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥ ६९ ॥

जो पुरुष हमारे इस धर्म विषयक सम्वाद-रूप-गीता-शास्त्र को पढ़ेगा निस्सन्देह वह पुरुष ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरा पूजन करने वाला होगा ॥ ७० ॥

जो पुरुष श्रद्धावान् और असूया-रहित केवल इस गीता-शास्त्र को सुने हो वह भी सम्पूर्ण पापों से छूट कर पुण्यात्माओं के भोगने योग्य शुभ लोकों को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

क्यों पार्थ ! तुमने इस गीता-शास्त्र को एकाग्रचित्त हो कर सुना न ? क्यों धनञ्जय ! तुम्हारा अज्ञान मूलक मोह दूर हुआ या नहीं ? ॥ ७२ ॥

इतना सुन कर अर्जुन ने कहाः—

हे अच्युत् मैंने आपकी कृपा से आत्मज्ञान रूप स्मृति पायी । मेरे सम्पूर्ण संशय नष्ट हो गये ॥ ७३ ॥

Printed by Pt. Kalika Prasad Dikshit at the National Press, Allahabad